14-15

जैनविद्या

वीरसेन विशेषांक

महावीर जयन्ती 2592

जैनविद्या संस्थान
दिगम्बर जैन अतिशय क्षेत्र श्रीमहावीरजी
राजस्थान

जैनविद्या

जैनविद्या संस्थान, श्रीमहावीरजी द्वारा प्रकाशित अर्द्धवार्षिक

शोध-पत्रिका

नवम्बर, 1993 - अप्रेल, 1994

सम्पादक मण्डल
श्री नवीनकुमार बज
श्री रतनलाल छाबड़ा
श्री महेन्द्रकुमार पाटनी
डॉ. कैलाशचन्द जैन
श्री ज्ञानचन्द्र बिल्टीवाला

प्रबन्ध सम्पादक
श्री कपूरचन्द पाटनी
मंत्री, प्रबन्धकारिणी कमेटी
दिगम्बर जैन अतिशय क्षेत्र श्रीमहावीरजी

सम्पादक
डॉ. कमलचन्द सोगाणी
श्री ज्ञानचन्द्र खिन्दूका
डॉ. गोपीचन्द पाटनी

सहायक सम्पादक
सुश्री प्रीति जैन

प्रकाशक
जैनविद्या संस्थान
प्रबन्धकारिणी कमेटी
दिगम्बर जैन अतिशय क्षेत्र श्रीमहावीरजी (राजस्थान)

मुद्रक :
जयपुर प्रिन्टर्स प्रा. लि.
जयपुर

वार्षिक मूल्य :
40.00 सामान्यतः
75.00 पुस्तकालय हेतु

विषय-सूची

क्र.सं.	विषय	लेखक का नाम	पृ.सं.
	आरंभिक		
	सम्पादकीय		
1.	जिन-सूत्र के ज्ञाता एवं कलिकाल सर्वज्ञ : आचार्य वीरसेन	डॉ. राजेन्द्रकुमार बंसल	1
2.	मंगलं पुण्यं	आचार्य वीरसेन	10
3.	भट्टारक वीरसेन और उनका समय	श्री रमाकान्त जैन	11
4.	पंचस्तूपान्वयी भट्टारक श्री वीरसेन स्वामी	श्री कुन्दनलाल जैन	17
5.	पुण्यार्थस्यभिधायकः	आचार्य वीरसेन	26
6.	आचार्य वीरसेन और उनकी कालजयी टीका 'धवला'	डॉ. श्रीरंजन सूरिदेव	27
7.	मंगल के प्रकार	आचार्य वीरसेन	32
8.	श्री वीरसेनाचार्य (आधुनिक न्यायशास्त्र के संदर्भ में)	प्रो. एल. सी. जैन कु. प्रभा जैन	33
9.	णमो अरिहंताणं	आचार्य वीरसेन	44
10.	आचार्य वीरसेन और उनका ज्ञानकेन्द्र	आचार्य राजकुमार जैन	45
11.	षट्खण्डागम और धवला में मार्गणास्थान की अवधारणा	श्री राजवीरसिंह शेखावत	53
12.	जैनधर्म के मर्मज्ञ : श्री वीरसेनाचार्य	श्री कन्हैयालाल लोढा	69
13.	अप्प संवोह कव्व	अनु. - डॉ. कस्तूरचन्द सुमन	79

आरंभिक

'जैनविद्या' शोध-पत्रिका का यह संयुक्तांक वीरसेन विशेषांक के रूप में पाठकों के समक्ष प्रस्तुत करते हुए हर्ष का अनुभव हो रहा है।

धरसेनाचार्य ने पुष्पदन्त और भूतबलि नामक शिष्यों को द्वितीय पूर्व के कुछ अधिकारों का ज्ञान दिया। उस ज्ञान के आधार से षट्खण्डागम की सूत्र-रूप में रचना की। यही आगम दिगम्बर सम्प्रदाय में ईसा की दूसरी शताब्दी का ग्रन्थ माना जाता है। इसकी रचना ज्येष्ठ शुक्ला पंचमी को पूर्ण हुई थी। इस दिन को श्रुत पंचमी के रूप में दिगम्बर सम्प्रदाय द्वारा आज भी मनाया जाता है। धरसेनाचार्य के लगभग समकालीन ही आचार्य गणधर ने कषायपाहुड की रचना की है।

वीरसेनाचार्य ने षट्खण्डागम के पाँच खण्डों पर बहत्तर हजार श्लोकप्रमाण टीका लिखी जो 'धवला' नाम से प्रसिद्ध है। उन्होंने कषायपाहुड पर भी टीका लिखी, किन्तु वे उसे बीस हजार श्लोकप्रमाण लिखकर स्वर्गवासी हुए। उनके सुयोग्य शिष्य जिनसेनाचार्य ने चालीस हजार श्लोकप्रमाण लिखकर पूरा किया। यह टीका 'जयधवला' के नाम से विख्यात है। इस तरह से आचार्य वीरसेन ने बानवे हजार श्लोकप्रमाण रचना की। 'महाभारत' एक लाख श्लोकप्रमाण होने से संसार का सबसे बड़ा काव्य समझा जाता है पर वह एक व्यक्ति की रचना नहीं है। आचार्य वीरसेन की रचना मात्रा में महाभारत से थोड़ी ही कम है, पर वह एक ही व्यक्ति के परिश्रम का फल है। "धन्य है आचार्य वीरसेन स्वामी की अपार प्रज्ञा और अनुपम साहित्यिक परिश्रम।"

आचार्य वीरसेन राजस्थान के गौरव हैं। वे चित्तौड़गढ़ के निवासी थे। उनका समय आठवीं-नौवीं शताब्दी माना जाता है। इनकी टीकाएं अधिकांश प्राकृत भाषा में हैं। यह निर्विवाद है कि आचार्य वीरसेन ने धवला और जयधवला टीकाओं के माध्यम से षट्खण्डागम और कषायपाहुड की गूढ़तम सामग्री को अभूतपूर्वरूप में प्रस्तुत कर अप्रतिम लोक-कल्याण किया है।

इस संयुक्तांक में जिन विद्वानों ने आचार्य वीरसेन पर अपनी रचनाएं भेजी हैं, उनके हम आभारी हैं। पत्रिका के सम्पादक, सहयोगी सम्पादक एवं सम्पादक मण्डल धन्यवादार्ह हैं।

कपूरचन्द पाटनी
मंत्री

नरेशकुमार सेठी
अध्यक्ष

प्रबन्धकारिणी कमेटी
दिगम्बर जैन अतिशय क्षेत्र श्रीमहावीरजी

सम्पादकीय

आचार्य वीरसेन बहुविध प्रतिभा के धनी थे। वे बहुश्रुतशीलता, सिद्धान्त-पारगामिता, ज्योतिर्विदत्व, गणितज्ञता, व्याकरणपटुता एवं न्यायनिपुणता आदि गुणों से विभूषित थे। वे राजस्थान के सुप्रसिद्ध चित्तौड़गढ़ के मोरी (मौर्य) राज धवलप्पदेव के कनिष्ठ पुत्र थे। डॉ. ज्योतिप्रसाद ने वीरसेनस्वामी का समय 710-750 ई. निर्धारित किया है।

आचार्य वीरसेन पंचस्तूपान्वयी शाखा से सम्बन्धित थे। पंचस्तूपान्वयी शाखा मथुरा या इसके आस-पास के प्रदेश से सम्बन्धित थी। यदि उनका अवतरण नहीं होता तो स्याद्वादमुद्रित आगम-ज्ञान के रहस्य से कलिकाल आत्मार्थी वंचित रह जाते।

वीरसेन स्वामी ने कोई स्वतंत्र ग्रंथ नहीं लिखा। उन्होंने षट्खण्डागम के प्रथम पाँचों खण्डों पर मुख्यतः प्राकृत भाषा में धवला टीका लिखी। इसी प्रकार कषायप्राभृत पर संस्कृत मिश्रित प्राकृत भाषा में टीका लिखी किन्तु वे इसमें बीस हजार श्लोकप्रमाण रचना कर स्वर्गवासी हो गये। षट्खण्डागम पर 'धवला टीका' जो अपने आप में एक स्वतंत्र, मौलिक ग्रन्थस्वरूप है, जैन वाङ्मय की ही नहीं, अपितु भारतीय वाङ्मय की एक अनूठी और अद्भुत मौलिक कृति है जिसमें आचार्य वीरसेन के अगाध-पाण्डित्य, विलक्षण प्रतिभा एवं विस्तृत बहुश्रुतज्ञता का आभास मिलता है।

इन टीकाओं में सूक्ष्म गहराई, तार्किकता, निर्भीकता, प्रामाणिकता एवं वीतराग मार्ग के प्रति सम्पूर्ण समर्पण भाव व्यक्त होता है। इन रचनाओं में ज्योतिष, गणित, बीजगणित एवं निमित्तज्ञान आदि का भी समावेश हुआ है।

आचार्य वीरसेन की धवला टीका बहत्तर हजार श्लोकप्रमाण है जिसे इन्होंने प्राकृत और संस्कृत मिश्रित भाषा में मणि-प्रवाल शैली में गुम्फित किया है। एक व्यक्ति ने अपने जीवन में बानवे हजार श्लोकप्रमाण रचनाएं कीं, यह अपने आप में आश्चर्य का विषय है। 'धवला टीका' में निमित्त, ज्योतिष एवं न्यायशास्त्रीय सूक्ष्म तत्त्वों के सांस्कृतिक विवेचन के साथ ही तिर्यंच और मनुष्य के द्वारा सम्यक्त्व, संयम और संयमासंयम की प्राप्ति की विधि का विशद उल्लेख हुआ है।

आचार्य वीरसेन ने स्वीकृत विषय को समझाने के लिए अपनी टीका में प्राध्यापन-शैली भी अपनाई है। जिस प्रकार शिक्षक छात्र को विषय का ज्ञान कराते समय बहुकोणीय तथ्यों और उदाहरणों या दृष्टान्तों का आश्रय लेता है तथा अपने अभिमत की सम्पुष्टि के लिए आप्तपुरुषों या शलाकापुरुषों के मतों को उद्धृत करता है, ठीक उसी प्रकार की शैली धवला टीका की है। कठिन शब्दों या वाक्यों के निर्वचन एक कुशल प्राध्यापक की शैली में निबद्ध किये गये हैं। इस शैली को आचार्य नेमिचन्द्र शास्त्री ने 'पाठक-शैली' कहा है।

जिस प्रकार 'महाभारत' एक लाख श्लोकप्रमाण में निबद्ध हुआ है उसी प्रकार आचार्य वीरसेन ने लगभग उतने ही (बानवे हजार) श्लोकप्रमाण में अपनी टीकाओं का उपन्यास किया है। महाभारत के बारे में प्रसिद्ध है - 'यदिहास्ति तदन्यत्र यन्नेहास्ति न तत्क्वचित्', अर्थात् जो

महाभारत में है वही अन्यत्र भी है, जो इसमें नहीं है वह कहीं नहीं है। इसी प्रकार जैन वाङ्मय के समस्त अनुयोग इन कालजयी टीकाओं में अन्तर्निहित हैं। सच पूछिये तो आचार्य वीरसेन जैनशास्त्र के व्यासदेव हैं।

धवला एवं जयधवला टीकाओं में श्री वीरसेनाचार्य ने दिगम्बर जैन आगम ग्रन्थों, षट्खण्डागम एवं कषायप्राभृत की गूढ़तम सामग्री को अभूतपूर्व रूप में प्रस्तुतकर अप्रतिम लोक कल्याण किया। उनकी उक्त टीकाओं में अंकगणितीय संदृष्टियाँ प्राप्त हैं, गणितीय न्याय शब्दों द्वारा अभिव्यक्त है। दिगम्बर जैन परम्परा के इन आगम-ग्रन्थों में कर्म-सिद्धान्त को गणित द्वारा साधा गया है और कर्म-सिद्धान्त के गहनतम परिप्रेक्ष्यों को उद्घाटित करने हेतु न केवल गणितीय न्याय अपितु गणितीय संदृष्टियों का सुन्दरी लिपि की सहायता से गम्भीरतम शोधकार्य किया गया है जिसमें विश्लेषण, संश्लेषण, राशि-सिद्धान्त एवं परमाणु-सिद्धान्त आदि का प्रयोग किया गया है।

श्री वीरसेनाचार्य ने उस समय तक सैद्धान्तिक मान्यताओं में आई विकृतियों पर भी आगम के आधार पर प्रहार किया। (क) उन्होंने गोत्रकर्म की परिभाषा करते हुए स्पष्ट लिखा है - गोत्र का सम्बन्ध न ऐश्वर्य से है, न योनि से न जाति, वंश-कुल परम्परा से है। गोत्रकर्म का सम्बन्ध भावों से है। (ख) 'दर्शन' शब्द का प्रायः सभी आचार्यों ने 'सामान्यज्ञान' अर्थ किया है, परन्तु दर्शनावरणीय कर्म में आये 'दर्शन' शब्द का अर्थ स्वसंवेदन होता है। श्री वीरसेनाचार्य ने 'दर्शन' को अन्तर्मुख चैतन्य एवं ज्ञान को बहिर्मुख चित्तप्रकाशक कहा है। (ग) वर्तमान में बहुत से विद्वान् करुणा, दया आदि भावों को जीव का विभाव मानते हैं परन्तु श्री वीरसेनाचार्य ने करुणा को जीव का स्वभाव कहा है। (घ) 'शुभयोग से कर्मबन्ध नहीं होता है वरन् कर्मक्षय होता है।' यह मान्यता जैनधर्म की मौलिक मान्यता है और प्राचीनकाल से परम्परा के रूप में अविच्छिन्न धारा से चली आ रही है। इसके अनेक प्रमाण ख्यातिप्राप्त दिगम्बर आचार्य श्री वीरसेनस्वामी रचित प्रसिद्ध 'धवला टीका' एवं 'जयधवला टीका' में देखे जा सकते हैं।

जैनविद्या का यह संयुक्तांक 'वीरसेन विशेषांक' के रूप में प्रकाशित है। जिन विद्वान् लेखकों ने अपने महत्वपूर्ण लेखों से इस अंक के कलेवर-निर्माण में सहयोग प्रदान किया है उन सभी के हम आभारी हैं और भविष्य में भी इसी प्रकार के सहयोग की अपेक्षा करते हैं। संस्थान समिति, सहयोगी सम्पादक, सम्पादक मण्डल एवं सहयोगी कार्यकर्ताओं के प्रति भी आभारी हैं। मुद्रण हेतु जयपुर प्रिन्टर्स प्रा. लि., जयपुर भी धन्यवादार्ह है।

डॉ. कमलचन्द सोगाणी

जिन-सूत्र के ज्ञाता एवं कलिकाल सर्वज्ञ : आचार्य वीरसेन

– डॉ. राजेन्द्रकुमार बंसल

•

जैन दर्शन चेतन और जड़ द्रव्यों की स्वतंत्रता एवं स्वाधीनता का पोषक दर्शन है, जो अनादि-निधन है। इस कालचक्र के अंतिम तीर्थंकर भगवान महावीर हुए जिन्होंने केवलज्ञान हो जाने पर जगत के जीवों को आत्मा की स्वतंत्रता और स्वावलम्बन का बोध कराकर मुक्ति का मार्ग प्रशस्त किया। उन्होंने दिव्य ध्वनि के माध्यम से बारह अंग और चौदह पूर्व रूप ग्रंथों की अर्थ-रचना की। निर्मल चार ज्ञान से युक्त ब्राह्मण वर्णी एवं गौतम गोत्री इन्द्रभूति गौतम ने महावीर के पादमूल में उपस्थित होकर उनकी दिव्य ध्वनि का अवधारण किया और बारह अंग तथा चौदह पूर्व रूप ग्रन्थों की एक ही मुहूर्त में क्रम से रचना की। इस प्रकार भावश्रुत एवं अर्थ पदों के कर्त्ता तीर्थंकर महावीर हैं और द्रव्यश्रुत के कर्त्ता गौतम गणधर हैं।

अंग-ज्ञान की परम्परा

गौतम इन्द्रभूति के पश्चात् सुधर्मा और जम्बूस्वामी, ये दो केवली और हुए। ये सकल श्रुत के पारगामी होकर निर्वाण को प्राप्त हुए। इसके बाद विष्णु, नन्दिमित्र, अपराजित, गोवर्धन और भद्रबाहु – ये पांचों आचार्य परिपाटी-क्रम से चौदह पूर्व के धारक श्रुतकेवली हुए। पश्चात् विशाखाचार्य, प्रोष्ठिल आदि ग्यारह महापुरुष ग्यारह अंग, दश पूर्वों तथा चार पूर्वों के एक-देश ज्ञाता हुए। इसके बाद नक्षत्राचार्य, जयपाल आदि पांच आचार्य परिपाटी-क्रम से सम्पूर्ण ग्यारह अंगों और चौदह पूर्वों के एकदेश-धारक हुए। तदनन्तर सुभद्र, यशोभद्र, यशोबाहु और

लोहाचार्य – ये चार आचार्य सम्पूर्ण आचारांग के धारक तथा शेष अंगों और पूर्वों के एक देश के धारक हुए। इसके बाद आचार्य-परम्परा से आता हुआ सभी अंगों एवं पूर्वों का एकदेश ज्ञान आचार्य धरसेन को प्राप्त हुआ। वे अष्टांग महानिमित्त के पारगामी थे और सौराष्ट्र की गिरिनगर की चन्द्रगुफा में रहते थे। इस प्रकार महावीर के निर्वाण के पश्चात् 683 वर्ष तक क्रमशः क्षीण होते हुए अंगज्ञान परिपाटी-क्रम में प्रचलित रहा और इसके बाद अंगज्ञान की परम्परा का विच्छेद हो गया।

श्रुतावतरण

आचार्य धरसेन ने अंग श्रुत के लोप होने से बचाने हेतु आंध्रप्रदेश में सम्पन्न हो रहे आचार्य-सम्मेलन में अनुरोध भेजा कि शास्त्र-अर्थ को ग्रहण करने में समर्थ योग्य साधुओं को उनके पास भेजें। तद्नुसार प्रतिभासम्पन्न आचार्य पुष्पदन्त और भूतबलि ने आचार्य धरसेन से जीव की स्वतंत्रता एवं महाकर्म-प्रकृति-प्राभृत का ज्ञान प्राप्तकर प्राकृत भाषा में 'षट्खंडागम' नामक महान सिद्धान्त ग्रंथ की सूत्र-रचना ज्येष्ठ शुक्ल पंचमी – 'श्रुतपंचमी' को सम्पन्न की। आचार्य पुष्पदन्त ने सत्प्ररूपणा के बीस अधिकारों की सूत्र-रचना की। आचार्य भूतबलि ने द्रव्यप्रमाणानुगम अर्थात् संख्या प्ररूपणा से लेकर महाबंध तक शेष ग्रंथ की रचना की । यह महाबंध जीवट्ठाण, खुद्दाबंध, बन्धस्वामित्व विचय, वेदना, वर्गणा और महाबंध इन छह खण्डों में विभक्त होने के कारण 'षट्खण्डागम' कहलाया।

आचार्य धरसेन के समान आचार्य गुणधर को भी सब अंगों और पूर्वों का एकदेश ज्ञान था। वे कषाय-प्राभृत नामक ज्ञान के महासमुद्र के पारगामी विद्वान थे। उन्होंने भी ग्रंथ विच्छेद के भय से 'पेज्जदोसपाहुड' की गाथाबद्ध रचनाकर उसका नाम 'कसाय-पाहुड' दिया। इस पर आचार्य यतिवृषभ ने चूर्णिसूत्र लिखकर कषाय के रहस्य को प्रकट किया। इस प्रकार ईसा की प्रथम शताब्दी में आचार्य-परम्परा से प्राप्त सर्वज्ञ-ज्ञान के आधार पर करणानुयोग के दो महान् ग्रंथ अर्थात् षट्खंडागम एवं कसायपाहुड रूप प्रथम श्रुत-स्कंध का अवतरण हुआ। इसके पश्चात् ईसा की दूसरी शताब्दी में आचार्य कुन्दकुन्द ने समयसार, प्रवचनसार, नियमसार, पंचास्तिकाय एवं अन्य पाहुड लिखकर द्रव्यानुयोगरूप द्वितीय श्रुत-स्कन्ध का अवतरण किया। जैन साहित्य के ये सभी ग्रंथ आधारभूत एवं मूल ग्रंथ हैं जिन पर परवर्ती आचार्यों ने विषद, व्यापक टीका-ग्रन्थों की रचना की।

धवला-जयधवला टीका

षट्खंडागम और कसायपाहुड – ये दोनों ग्रंथ कर्म सिद्धान्त को बीजरूप में प्रस्तुत करते हैं। जब तक इनके गूढ़ रहस्यों की व्याख्या सर्वज्ञ-प्रणीत भाव से नहीं की जाये, सामान्य व्यक्ति इसको समझ नहीं सकते। इस उद्देश्य की पूर्ति हेतु आचार्य वीरसेन ने षट्खंडागम की धवला और कषायपाहुड की जयधवला टीका लिखकर की। ये दोनों टीका-ग्रंथ एक प्रकार से स्वतंत्र एवं पूर्ण ग्रंथ हैं, इस कारण आचार्य वीरसेन को उपनिबन्धनकर्त्ता कहा गया है। जयधवलाप्रशस्ति में "टीकाश्रीवीरसेनीया शेषाः पद्धति-पंजिकाः" (जयधवला, प्र. पद्य 39) अर्थात् वीरसेन की टीका ही यथार्थ टीका है शेष तो पद्धति या पंजिका हैं – कहकर इन टीकाओं को गौरवान्वित

किया है। ये दोनों टीकाएं लगभग एक लाख श्लोकप्रमाण हैं जो महाभारत के समतुल्य हैं। इस दृष्टि से साहित्य-निर्माण के क्षेत्र में आचार्य वीरसेन का स्थान महाभारतकार के समकक्ष है।

एलाचार्य

महावीर के धर्म-शासन में गुरु-परम्परा का विशिष्ट स्थान है। सर्वज्ञ-प्रणीत ज्ञान गुरु-परम्परा से ही निर्बाधगति से प्रवाहित होता रहा है। अतः आचार्य वीरसेन के कर्तृत्व को समझने के पूर्व उनके आचार्य गुरु का ज्ञान भी आवश्यक है। इन्द्रनन्दि ने अपने ग्रंथ श्रुतावतार में लिखा है कि आचार्य वप्पदेव के पश्चात् कुछ काल बीत जाने पर चित्रकूट निवासी एलाचार्य हुए। वे सिद्धान्तशास्त्र के रहस्य के ज्ञाता थे। एलाचार्य के पास रहकर वीरसेनाचार्य ने सम्पूर्ण सिद्धान्तों का गूढ़ अध्ययन किया और निबन्धनादि आठ अधिकारों को लिखा (श्रुतावतार, श्लोक 177-178), इससे स्पष्ट होता है कि एलाचार्य वीरसेन के विद्यागुरु थे, वे उन्हें "जीव्भमेलाइरियवच्छओं" (जयधवला टीका, पृ. 81) के अनुसार पुत्रवत् स्नेह करते थे। इनका समय 8वीं शताब्दी का उत्तरार्द्ध और नवमी शताब्दी का पूर्वार्द्ध है। यद्यपि एलाचार्य ने किसी स्वतंत्र ग्रंथ की रचना नहीं की, फिर भी वे सिद्धान्त-शास्त्र के मर्मज्ञ ज्ञाता, अद्भुत प्रतिभा के धनी, निष्पक्ष-उदारमना, वाचक गुरु थे जो उनके शिष्य वीरसेन के व्यक्तित्व एवं कर्तृत्व से स्पष्टरूप से परिलक्षित होता है।

वीरसेन स्वामी

आचार्य वीरसेन की प्रतिभा एवं सर्वज्ञतुल्य-ज्ञान का वर्णन शब्द-सीमा से परे है। यदि उनका अवतरण नहीं होता तो स्याद्वादमुद्रित आगम-ज्ञान के रहस्य से कलिकाल-आत्मार्थी वंचित रह जाते। इस तथ्य के महत्त्व को इस बात से समझा जा सकता है कि महाकर्म सिद्धान्त की नय, प्रमाण एवं निक्षेप आचार्य वीरसेन की विशद टीकाएं होते हुए भी एकान्ती-जन उनके भिन्न-भिन्न, तर्क-असंगत, आगम प्रतिकूल एवं इतर-धर्म-समर्थक निष्कर्ष निकालकर वीतराग मार्ग को विकृत कर रहे हैं। यदि ये टीकाएं न होतीं तो छद्मज्ञानी धर्मशास्त्र का न जाने कितना अवर्णवाद करते? विचारणीय है। वीरसेन अपने समय के पंचाचारयुक्त श्रेष्ठ आचार्य, आगमसूत्र एवं सिद्धान्तों के ज्ञाता, स्व-पर समय में पारंगत, निर्मल बुद्धि के धारक, निर्भीक, निर्दोष, निराग्रही, सौम्य, निष्कम्प, भयविहीन, सहनशील एवं निर्लेप स्वभाव के थे। वे ज्योतिष के ज्ञाता, छन्द-व्याकरण, न्याय एवं प्रमाणशास्त्र के मर्मज्ञ, गणितज्ञ एवं अध्ययनशील प्रकृति के थे। वे निराभिमानी, निश्छल, वीतराग मार्ग के ज्ञाता-अध्येता, अनेकान्त-स्यादवाद मुद्रित महावीर-वाणी के उद्घोषक/प्रकाशक, अनेक विद्याओं के पारगामी, सहिष्णु, तत्व-मर्मज्ञ और केवली-तुल्य ज्ञान के धारक थे। जिस प्रकार चक्रवर्ती भरत की आज्ञा छह खण्डों में प्रभावी थी उसी प्रकार वीरसेन का ज्ञान षट्खण्डागम में प्रवर्तमान रहा। उनका हृदय-दर्पण वीतरागता को प्रतिबिम्बित करनेवाला निर्मल-स्वच्छ था। महाकर्म सिद्धान्त के प्रतिपादन में जहाँ उन्होंने सुस्पष्ट आचार्य-परम्परा का पोषण किया वहाँ उन्होंने स्खलित ज्ञान का दृढ़तापूर्वक प्रतिकार भी किया। कहीं ऐसा भी संयोग हुआ जहाँ उन्होंने तर्कसंगत दो विचारधाराओं को यथावत मान्य भी किया। इस संदर्भ में अनिवृतिकरण गुणस्थान में कर्मक्षय विषयक उद्धरण (धवला पु.1, पृष्ठ 217-222) पठनीय है।

कवि चक्रवर्ती

वीरसेन के इन अद्‌भुत गुणों के कारण ही जिनसेन प्रथम ने हरिवंशपुराण (1.39) में उन्हें कवि चक्रवर्ती के रूप में स्मरण किया –

जितात्म-परलोकस्य कवीनां चक्रवर्तिनः ।
वीरसेनगुरोः कीर्तिरकलङ्कावभासते ॥39॥

यथा – जिन्होंने स्वपक्ष के लोगों को जीत लिया है तथा जो कवियों के चक्रवर्ती हैं ऐसे वीरसेन स्वामी की निर्मल कीर्ति प्रकाशमान हो रही है।

आदिपुराण के रचनाकार और वीरसेन के शिष्य जिनसेन (द्वितीय) ने अपने गुरु की स्तुति 'कविवृन्दारक' कहकर की है। उन्होंने आदिपुराण (1. 55-57) में लिखा है – 'वे अत्यन्त प्रसिद्ध वीरसेन भट्टारक हमें पवित्र करें, जिनकी आत्मा स्वयं पवित्र है, जो कवियों में श्रेष्ठ हैं, जो लोक-व्यवहार और काव्य-स्वरूप के महान ज्ञाता हैं तथा जिनकी वाणी के समक्ष औरों की तो बात ही क्या स्वयं सुर-गुरु बृहस्पति की वाणी भी सीमित-अल्प जान पड़ती है। सिद्धान्त-षट्खण्डागम सिद्धान्त-ग्रंथ के ऊपर उपनिबन्धन-निबन्धात्मक टीका रचनेवाले मेरे गुरु वीरसेन भट्टारक के कोमल चरणकमल सर्वदा मेरे मनरूपी सरोवर में विद्यमान रहें।'

जीवन परिचय

धवला टीका की अंतिम प्रशस्ति में वीरसेन स्वामी ने अपने दीक्षा-गुरु का नाम आर्यनन्दी और दादा गुरु का नाम चन्दसेन बताया है। ये पंचस्तूप नाम की शाखा में हुए जिसका सम्बन्ध मथुरा और हस्तिनापुर से रहा। वीरसेन स्वामी ने एलाचार्य के पास चित्रकूट में कर्म सिद्धान्त का गहन अध्ययन किया। पश्चात् बड़ौदा के निकट बाटक ग्राम के जिनालय में गुरु वप्पदेवकृत षट्खंडागम टीका की अस्पष्टता देखकर नयी टीका लिखने की प्रेरणा हुई। तद्नुसार उन्होंने षट्खंडागम की बहत्तर हजार श्लोकप्रमाण धवलाटीका लिखी। पश्चात् आचार्य गुणधरकृत कसाय-पाहुड की चार विभक्तियों की बीस हजार श्लोक प्रमाण जयधवला टीका लिखकर स्वर्गवासी हो गये। उनके विद्वान शिष्य जिनसेन द्वितीय ने जयधवला की शेष चालीस हजार श्लोकप्रमाण टीका शक सम्वत् 753 की फागुन शुक्ला दशमी को पूर्ण की। उस समय राष्ट्रकूट नरेश अमोघवर्ष का राज्य था। इस टीका के पहले का समय वीरसेनाचार्य का होना चाहिये। डॉ. हीरालाल जैन ने अनेक प्रमाणों के आधार पर धवला की समाप्ति का समय शक संवत् 738 सिद्ध किया है। उनके अनुसार जब जयतुंगदेव का राज्य पूर्ण हो चुका था और बोद्दणराय (अमोघवर्ष) राजगद्दी पर आसीन हो चुके थे तब धवला टीका समाप्त हुई थी (धवलाटीका, प्रस्ता. पृ. 40-41)। इस प्रकार वीरसेन स्वामी का समय 9वीं शताब्दी ई. सन् 816 होता है।

वीरसेन स्वामी ने कोई स्वतंत्र ग्रंथ नहीं लिखा। उन्होंने षट्खंडागम के प्रथम पांच खण्डों पर प्राकृत भाषा में धवला टीका लिखकर छठे खण्ड अर्थात् 'सत्कर्म' की रचना की जिसमें बन्ध आदि अठारह अधिकारों का वर्णन है। इसी प्रकार कषायप्राभृत पर संस्कृतमिश्रित प्राकृत भाषा में टीका लिखी। इन टीकाओं में सिद्धान्त की सूक्ष्म गहराई, तार्किकता, निर्भीकता, प्रमाणिकता

एवं वीतराग मार्ग के प्रति सम्पूर्ण समर्पण भाव व्यक्त होता है। इन रचनाओं में ज्योतिष, गणित, बीजगणित एवं निमित्त ज्ञान आदि का भी समावेश हुआ है।

विशद आधार

वीरसेन की टीका का आधार वीतराग परम्परा से चला आया गुरु-ज्ञान-परक सिद्धान्त ज्ञान था। उन्होंने तत्कालीन उपलब्ध दिगम्बर-श्वेताम्बरीय शास्त्रों एवं बौद्ध ग्रंथों का भी विशद अध्ययन किया था जिनका उल्लेख धवला-जयधवला टीकाओं में हुआ है। आचारांगनिर्युक्ति, अनुयोगद्वार सूत्र, दशवैकालिक, स्थानांग सूत्र, नन्दि सूत्र और ओघ निर्युक्ति आदि श्वेताम्बरीय ग्रंथ हैं जिनका उपयोग वीरसेन ने किया है। एक छेदसूत्र का भी उल्लेख है। अन्य दर्शनों के ग्रंथों में बौद्ध कवि अश्वघोष के सौदरानन्द काव्य, धर्मकीर्ति के प्रमाणवार्तिक, ईश्वर कृष्ण की सांख्यकारिका और कुमारिल भट्ट के मीमांसा-श्लोककार्तिक से भी एक-दो उद्धरण दिये हैं।

वीरसेन स्वामी विद्याप्रेमी थे। उन्होंने धवला और जयधवला टीकाओं में जैनाचार्यों के ग्रंथों के उद्धरण देकर अपने व्यापक दृष्टिकोण का परिचय दिया है। जैन साहित्य प्रथमानुयोग, करणानुयोग, द्रव्यानुयोग एवं चरणानुयोग में विभक्त है। इन सब अनुयोगों का अपना-अपना दृष्टिकोण है। करणानुयोग सर्वज्ञ ज्ञानाधारित गणित एवं कर्म-विधान प्रधान है। द्रव्यानुयोग स्व-पर भेद-विज्ञान एवं न्याय-पद्धति पर आधारित अनुभवपरक है, जबकि चरणानुयोग नीतिगत आचरणपरक है। प्रथमानुयोग अलंकार-काव्यपरक है। आचार्य वीरसेन ने सभी अनुयोगों के उद्धरणों का उपयोग वीतरागता के पोषण एवं पुष्टि में किया। पूर्वाग्रह में कहीं किसी अनुयोग के कथन से विपरीत निष्कर्ष नहीं निकाले। उन्होंने सतकम्मपाहुड, धरसेनाचार्यकृत योनिप्राभृत, कुन्दकुन्दकृत परिकर्म, प्रवचनसार, समयसार, पंचास्तिकाय, अष्टपाहुड, यतिवृषभरचितचूर्णि-सूत्र और तिलोयपण्णत्ति, उच्चारणाचार्यकृत उच्चारणावृत्ति, वट्टकेरकृत मूलाचार, शिवार्यरचित भगवती-आराधना, गृद्धपिच्छाचार्यकृत तत्वार्थसूत्र, समन्तभद्रकृत आप्तमीमांसा, वृहतस्वयंभू, युक्तयनुशासन, सिद्धसेनरचित सन्मतिसूत्र, पूज्यपाद-रचित सारसंग्रह, अकलंकदेव-रचित तत्वार्थभाष्य, सिद्धिविनिश्चय एवं लघीयस्त्रय, धनंजय कवि कृत नाममालाकोश, वाप्पभट्टरचित उच्चारणा तथा व्याख्याप्रज्ञाप्ति, पिंडिया, प्राकृत पंचसंग्रह, जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति, अंगपण्णत्ति आदि ग्रंथों के सार को समझकर उनके उद्धरणों का समुचित – सही उपयोग टीकाओं में किया। ऐसा करते समय उनकी दृष्टि स्वपांडित्य-प्रदर्शन की न होकर तत्व एवं सिद्धान्त के सम्यक् प्रकाशन की ही रही। उनकी यही महानता उन्हें दिव्यता/भव्यता प्रदान करती है। इन ग्रंथों के अध्ययन से उनकी कुशाग्र बुद्धि अत्यन्त निर्मल, समत्वभावी, तत्व-मर्मज्ञ एवं समन्वित-दृष्टियुक्त हो गयी थी।

नय-दृष्टि से पदार्थों का परिज्ञान

आग्रहविहीन दृष्टि से वस्तु-स्वरूप की समग्रता का बोध होता है। इस विचार की पुष्टि में वीरसेन ने कहा कि जिनेन्द्र भगवान के मत में नयवाद के बिना सूत्र और अर्थ कुछ भी नहीं कहा गया है। इसलिये जो मुनि नयवाद में निपुण होते हैं वे सच्चे सिद्धान्त के ज्ञाता समझने चाहिये। अत: जिसने सूत्र अर्थात् परमागम को भली प्रकार जान लिया है उसे ही अर्थ-सम्पादन में नय

और प्रमाण के द्वारा पदार्थ के परिज्ञान करने में प्रयत्न करना चाहिये, क्योंकि पदार्थों का परिज्ञान भी नयवादरूपी जंगल में अन्तर्निहित है अतएव दुरधिगम्य अर्थात् जानने के लिए कठिन है (धवला गाथा 68-69, 1.1.1., पृष्ठ 92)।

नयाधारित कर्मबन्ध के प्रत्यय

नय विविक्षा को दृष्टिगत कर आचार्य वीरसेन ने कर्मबन्ध के प्रत्ययों का वर्णन 'वेदना-प्रत्यय विधान' के अंतर्गत धवला पुस्तक 12 के पृष्ठ 274 से 293 तक किया है, जो पठनीय/मननीय है। इसके अनुसार नैगम, व्यवहार और संग्रह रूप द्रव्यार्थिक नयों की अपेक्षा ज्ञानावरणादिक आठ कर्मों के बंध के प्रत्यय प्राणातिपात, असत वचन, अदत्तादान (चोरी), मैथुन, परिग्रह, रात्रि-भोजन, क्रोध, मान, माया, लोभ, राग, द्वेष, मोह, प्रेम, निदान, अभ्याख्यान (अविद्यमान दोष प्रकट करना) कलह, पैशून्य, रति, अरति, उपधि, निकृत्ति (धोखा), माया, मान, मोष, मिथ्याज्ञान, मिथ्यादर्शन और योग हैं (सूत्र 1 से 11)। ऋजुसूत्र नय की अपेक्षा ज्ञानावरणादिक कर्म-बन्ध में योग प्रत्यय से प्रकृति और प्रदेश बंध होता है और कषाय प्रत्यय से स्थिति और अनुभाग बंध होता है (सूत्र 12-14)। "सद्दणयस्य अवत्तव्वं" शब्द नय की अपेक्षा अव्यक्त है (सूत्र 15)। इस प्रकार शब्द, समभिरूढ़ तथा एवंभूत इन तीन शब्द नयों की अपेक्षा ज्ञानावरणीय कर्मबन्ध के प्रत्यय अव्यक्त हैं। वीरसेन स्वामी ने नय विविक्षा के अनुसार सर्वज्ञ-प्रणीत कर्म-बन्ध के प्रत्ययों का वर्णन जो-जैसा है-वैसा कर दिया। उन्होंने 'मिथ्यात्व अकिंचित्कर' या दर्शन मोहनीय का सारा का सारा परिवार ही बंध-व्यवस्था में अपना कोई भी हाथ नहीं रखता, इस प्रकार के निष्कर्ष नहीं निकाले। दोनों टीकाओं में इस प्रकार का निरूपण भी नहीं किया। कहीं दृष्टि में नहीं आया।

ओध और आदेश प्ररूपणा की उपादेयता

कर्म-सिद्धान्त के जटिल और सूक्ष्म ज्ञान के अवबोध हेतु नययुक्त उन्मुक्त कुशाग्र बुद्धि की आवश्यकता होती है किन्तु वीतरागता की प्राप्ति भेद-विज्ञान-युक्त अनुभव या आत्मानुभव एवं चारित्र से होती है। इस रहस्य का उद्घाटन वीरसेन स्वामी ने ओध अर्थात् सामान्य और आदेश अर्थात् विशेष प्ररूपणा की उपादेयता दर्शाते हुए किया। उनके अनुसार - जो संक्षेप रुचिवाले शिष्य होते हैं वे द्रव्यार्थिक अर्थात् सामान्य प्ररूपणा से ही तत्त्व जानना चाहते हैं और जो विस्तार रुचिवाले होते हैं वे पर्यायार्थिक अर्थात् विशेष प्ररूपणा के द्वारा तत्त्व को समझना चाहते हैं। इसलिये इन दोनों प्रकार के प्राणियों के अनुग्रह के लिए यहां पर दोनों प्रकार की प्ररूपणाओं का कथन किया है (धवला 1.1.8, पृष्ठ 161)। इस दृष्टि से गुणस्थान और मार्गणा-स्थान दोनों दृष्टियों से तत्व का निरूपण किया गया।

रचना शैली

श्री वीरसेन स्वामी की रचना-शैली सहज एवं बोधगम्य है। वे स्वयं शंका उठाते हैं और उसका समाधान देते हैं। जिस प्रकार शिक्षक स्वयं प्रश्नकर अपने छात्र को उदाहरणसहित तर्क और युक्ति से विषय-बोध कराता है उसी प्रकार वीरसेन स्वामी ने कर्म सिद्धान्त की दुरूहता

एवं जटिलता को सहज ग्राह्य बनाया। उन्होंने दो-तीन शब्दों के सूत्रों की लम्बी-लम्बी व्याख्याएं-कर उनके गर्भित अर्थ को प्रकट किया। 'सकने या होने' जैसे विशेषण लगाकर यदा-तदा निरूपण नहीं किया। यही विशेषता वीरसेन स्वामी को प्रमाणिकता के शिखर पर ले जाती है उनके द्वारा निरूपित कतिपय शब्दों की व्याख्या से इस तथ्य की पुष्टि सहज ही हो जाती है।

(i) मोहनीय सबसे प्रबल शत्रु

मोहनीय कर्म सर्व कर्मों में सबसे घातक एवं प्रभावी शत्रु है, इस तथ्य की सिद्धि आचार्य वीरसेन ने पंच नमस्कार मंत्र के प्रथम पद अर्थात् 'णमो अरिहंताणम्' की व्याख्या करते हुए की। उन्होंने कहा कि 'अरिहननादरिहन्ता', अरि अर्थात् शत्रुओं के हननात् अर्थात् नाश करने से 'अरिहंत' होते हैं। नरक, तिर्यंच, कुमानुष और प्रेत इन पर्यायों में निवास करने से होने वाले समस्त दुखों की प्राप्ति का निमित्त कारण होने से 'मोह' को अरि अर्थात् 'शत्रु' कहा है। मोह कर्म ही शत्रु क्यों है? यह शंका और प्रतिशंकाएं उठाकर आचार्य वीरसेन ने युक्तिसंगत समाधान दिये जो मननीय हैं। एक शंका समाधान इस प्रकार है –

शंका – केवल मोह को ही अरि मान लेने पर शेष कर्मों का व्यापार निष्फल हो जाता है।

समाधान – ऐसा नहीं है, क्योंकि, बाकी के समस्त कर्म मोह के आधीन हैं। मोह के बिना शेष कर्म अपने-अपने कार्य की उत्पत्ति में व्यापार करते हुए नहीं पाये जाते हैं जिससे कि वे भी अपने कार्य में स्वतंत्र समझे जायें। इसलिये सच्चा अरि मोह ही है और शेष कर्म उसके आधीन हैं। (धवला 1.1.1, पृष्ठ 43-44)

(ii) कषाय का व्यापक अर्थ

सामान्यरूप से क्रोध, मान, माया और लोभ आदि के मनोभावों को कषाय कहते हैं। शब्दार्थ में – जो कसे वह कषाय है। किन्तु आचार्य वीरसेन ने कषाय की व्याख्या व्यापक अर्थ में की। उनके अनुसार – 'सुख-दुख बहुसस्य कर्मक्षेत्रं कृषन्तीति कषायाः' अर्थात् सुख, दुख रूपी नानाप्रकार के धान्य को उत्पन्न करनेवाले कर्मरूपी क्षेत्र को जो कर्षण करती है, अर्थात्, फल उत्पन्न करने के योग्य करती हैं, उन्हें कषाय कहते हैं। यहां पर आचार्य वीरसेन ने स्वयं शंका उठाई कि जो कसें उन्हें कषाय क्यों नहीं कहते, जो इस प्रकार है –

शंका – यहां पर कषाय शब्द की, 'कषन्तीति कषायाः' अर्थात् जो कसें उन्हें कषाय कहते हैं, इस प्रकार की व्युत्पत्ति क्यों नहीं की ?

समाधान – नहीं, क्योंकि, 'जो कसें उन्हें कषाय कहते हैं', कषाय शब्द की इस प्रकार की व्युत्पत्ति करने पर कसनेवाले किसी भी पदार्थ को कषाय माना जायेगा। अतः कषायों के स्वरूप समझने में संशय उत्पन्न हो सकता है, इसलिये जो कसें उन्हें कषाय कहते हैं, इस प्रकार व्युत्पत्ति नहीं की गई।

(iii) सम्यक्त्व का लक्षण/अर्थ

"सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः" (तत्त्वार्थ सूत्र 1.1)। जैन दर्शन में सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान एवं सम्यक्-चारित्र की एकता को मोक्षमार्ग कहा है। इसमें सम्यग्दर्शन अर्थात् आत्मश्रद्धान धर्म का मूल अर्थात् आधार है। इसके अभाव में जीवन में धर्म का प्रवेश नहीं हो सकता। सम्यक्त्व से व्यक्ति को स्वतंत्रता का बोध होता है और वह स्वावलम्बन की ओर बढ़ता है। सम्यक्त्व क्या है? इसकी व्याख्या वीरसेन ने निम्न प्रकार से की –

'प्रशम, संवेग, अनुकम्पा और आस्तिक्य की प्रकटता जिसका लक्षण है उसको सम्यक्त्व कहते हैं।'

शंका – इस प्रकार लक्षण मान लेने पर असंयत सम्यक्दृष्टि गुणस्थान का अभाव हो जायेगा।

समाधान – शुद्ध निश्चयनय का स्मरण करने पर यह कहना सत्य है अथवा तत्वार्थ के श्रद्धान को सम्यग्दर्शन कहते हैं। इसका अर्थ यह है कि आप्त, आगम और पदार्थ को तत्वार्थ कहते हैं, उनके विषय में श्रद्धान/अनुरक्ति करने को सम्यग्दर्शन कहते हैं। यहां सम्यग्दर्शन लक्ष्य है और आप्त, आगम तथा पदार्थ का श्रद्धान लक्षण है।

शंका – पहले कहे हुए सम्यक्त्व के लक्षण के साथ इस लक्षण का विरोध क्यों न माना जाये ?

समाधान – यह कोई दोष नहीं, क्योंकि शुद्ध और अशुद्ध नय की अपेक्षा यह दोनों लक्षण कहे गये हैं। पहला लक्षण शुद्ध नय की अपेक्षा से है और तत्वार्थ-श्रद्धान-रूप लक्षण अशुद्ध नय की अपेक्षा है। दृष्टि-भेद होने के कारण दोनों लक्षणों में कोई विरोध नहीं आता।

अथवा 'तत्वरुचिः सम्यक्त्वं' तत्व-रुचि को सम्यक्त्व कहते हैं। यह लक्षण अशुद्धतर नय की अपेक्षा जानना चाहिये (धवला 1.1.4, पृष्ठ 152)।

(iv) मोहनीय कर्म और अनन्तानुबन्धी कषाय की द्वि-स्वभावता

मोहनीयकर्म दर्शन मोह और चारित्र मोह रूप दो प्रकार का है जो समीचीन श्रद्धा और चारित्र को घातता है। इसी प्रकार अनन्तानुबंधी कषाय सम्यक्त्व और स्वरूपाचरण चारित्र की प्रतिबंधक होने के कारण दो स्वभाववाली है। अनन्तानुबंधी कषाय की द्वि-स्वभावता आचार्य वीरसेन ने सासादन-सम्यग्दृष्टि नामक द्वितीय गुणस्थान के अस्तित्व से सिद्ध की है। उनके अनुसार इस गुण-स्थान में अनन्तानुबंधी कषाय के उदय से उत्पन्न विपरीताभिनिवेश पाया जाता है जो चारित्र मोहनीय का भेद है, इसलिये द्वितीय गुणस्थानवर्ती जीव मिथ्यादृष्टि है। किन्तु मिथ्यात्व कर्म के उदय से उत्पन्न हुआ विपरीताभिनिवेश वहां नहीं पाया जाता इसलिये उसे मिथ्यादृष्टि नहीं कहते, किन्तु सासादन-सम्यग्दृष्टि कहते हैं। इस सामान्य विवेचन के साथ आचार्य वीरसेन ने निम्न शंका-समाधान किया जो मननीय है –

शंका – पूर्व के कथनानुसार जब वह मिथ्यादृष्टि ही है फिर उसे मिथ्यादृष्टि संज्ञा क्यों नहीं दी गई है ?

समाधान – ऐसा नहीं है, क्योंकि, सासादन गुणस्थान को स्वतंत्र कहने से अनन्तानुबंधी प्रकृतियों की द्वि-स्वभावता का कथन सिद्ध हो जाता है।

विशेषार्थ

'''' वह द्विस्वभावता दो प्रकार से हो सकती है। एक तो अनन्तानुबंधी कषाय सम्यक्त्व और चारित्र इन दोनों की प्रतिबन्धक मानी गई है और यही उसकी द्वि-स्वभावता है। '''' दूसरे अनन्तानुबंधी जिस प्रकार सम्यक्त्व के विधान में मिथ्यात्व प्रकृति का काम करती है उस प्रकार वह मित्यात्व के उत्पाद में मिथ्यात्व प्रकृति का काम नहीं करती। इस प्रकार की द्विस्वभावता को सिद्ध करने के लिए सासादन गुणस्थान को स्वतंत्र माना है।

(धवला, 1.10, पृष्ठ 165-166)

उपसंहार

जैन दर्शन के कर्म-सिद्धान्त की प्रामाणिक प्ररूपणा के क्षेत्र में आचार्य वीरसेन के अद्‌भुत योगदान के कारण वे कलिकाल-सर्वज्ञवत् मान्य हुए हैं। उनकी धवला और जयधवला टीकाओं-रूप अगाध ज्ञान-सागर में अनन्त ज्ञानरत्न, माणिक्य और मोती भरे हैं जो निर्मल ज्ञान के ज्ञेय होने के साथ ही वीतराग मार्ग का सम्यक् निरूपण करते हैं। जो भव्य जीव नय-भेद के आग्रह को त्यागकर उसमें डुबकी लगाते हैं उन्हें निश्चित ही ज्ञान-स्वभावी आत्मा के अमूल्य-अनुपम रत्न की प्राप्ति होती है और वे पर्याय-दृष्टि त्यागकर स्व-समय-रूप प्रवर्तते हैं। किन्तु जो नय-पक्ष के आग्रही होते हैं वे रत्नों के स्थान पर विविध मनोभावों के आत्म-पीड़क कंकण ही पाते हैं। कहा भी है – 'जितने वचन मार्ग हैं उतने ही नयवाद हैं और जितने नयवाद हैं उतने ही पर-समय होते हैं (धवला, 1.1.9, गाथार्थ 105, पृष्ठ 169)।' भव्यजन वीरसेन स्वामी वर्णित वीतराग-पथ के अनुगामी बनकर जीवन का रूपांतरण/उन्नयन करें, यही कामना है।

कार्मिक अधिकारी
जी-5
ओरियॅन्ट पेपर मिल्स
अमलाई (म.प्र.) - 484117

मंगलं पुण्यं

मंगलस्यैकार्थ उच्यते, मंगलं पुण्यं पूतं पवित्रं प्रशस्तं शिवं शुभं कल्याणं भद्रं सौख्यमित्येवमादीनि मंगलपर्यायवचनानि।

× × ×

मंगलस्य निरुक्तिरुच्यते मलं गालयति विनाशयति घातयति दहति हन्ति विशोधयति विध्वंसयतीति मंगलम्।

× × ×

अथवा मंगं सुखं, तल्लाति आदत्त इति वा मंगलम्।

× × ×

अथवा मङ्गति गच्छति कर्ता कार्यसिद्धिमनेनास्मिन् वेति मङ्गलम्।

– षट्खण्डागम (पु. 1, पृ. 33)

× × ×

– मंगल के एकार्थवाचक नाम कहते हैं – मंगल, पुण्य, पूत, पवित्र, प्रशस्त, शिव, शुभ, कल्याण, भद्र और सौख्य इत्यादि मंगल के पयार्यवाची नाम हैं।

× × ×

– (अब) मंगल की निरुक्ति (व्युत्पत्तिजन्य अर्थ) कहते हैं – जो मल का गालन करे, विनाश करे, घात करे, दहन करे, नाश करे, शोधन करे, विध्वंस करे उसे मंगल कहते हैं।

× × ×

– मंग शब्द सुखवाची है, उसे जो लावे, प्राप्त करे उसे मंगल कहते हैं।

× × ×

– अथवा कर्ता (किसी उद्दिष्ट कार्य को करनेवाला) जिसके द्वारा या जिसके किये जाने पर कार्य की सिद्धि को प्राप्त होता है उसे भी मंगल कहते हैं।

भट्टारक वीरसेन और उनका समय

– श्री रमाकान्त जैन

जितात्मपरलोकस्य कवीनां चक्रवर्तिनः।
वीरसेनगुरोः कीर्तिरकलङ्कावभासते॥[1]

अर्थात् जिन्होंने स्वपक्ष और परपक्ष के लोगों को जीत लिया है तथा जो कवियों के चक्रवर्ती हैं, ऐसे वीरसेन गुरु की निर्मल कीर्ति प्रकाशमान हो रही है।

वीरसेनाख्य मोक्षगे चारूगुणानर्घ्य रत्नसिंधुगिरि सततम्।
साखरात्मध्यानगेमारमदाम्भोद पवनगिरिगव्हरयितु॥[2]

अर्थात् सदैव रत्नाकर की तरह गम्भीर (गहरे) और गिरि की भांति उत्तुंग (ऊँचे), चारुगुणों से युक्त अनर्घ्य पदरूपी रत्न मोक्ष-मार्ग के ज्ञाता वीरसेन नामक आचार्य काम-मद-रूपी बादल को सारस्वरूप (भारी) आत्मध्यान (आत्मा का ध्यान अथवा स्वरूप) बतानेवाली पवन से गिरि-चोटी पर ही विच्छिन्न करनेवाले हैं।

श्री वीरसेन इत्याप्त-भट्टारकपृथुप्रथः। स नः पुनातु पूतात्मा कविवृन्दारका मुनिः। लोकवित्वं कवित्वं च स्थितं भट्टारकेद्वयम्। वाङ्मिताऽवाङ्मिता यस्य वाचा वाचस्पतेरपि॥

सिद्धान्तोपनिबन्धानां विद्यातुर्मद्गुरोश्चिरम्। मन्मनःसरसि स्थेयान् मृदुपादकुशेशयम्। धवलां भारतीं तस्य कीर्ति च विधुनिर्मलाम्। धवलीकृतनिश्शेष भुवनां नन्नमीम्यहम्॥[3]

अर्थात् पृथ्वीतल पर प्रसिद्ध (या आप्त अर्थात् सकल मोह, राग, द्वेष आदि दोषों से रहित, सकल पदार्थों के ज्ञाता और परम हितोपदेशी) भट्टारक (साधु) जिनकी आत्मा पवित्र है, जो कवियों में श्रेष्ठ और मुनि हैं (या वादिवृन्दारक मुनि अर्थात् शास्त्रार्थ करनेवाले मुनि हैं), जिनके भट्टारकरूप में लोक-विज्ञता और कवित्वशक्ति विद्यमान है और जिनकी वाणी वाचस्पति की वाणी को भी अल्पीकृत (सीमित या मात) करती है, ऐसे वे श्री वीरसेन स्वामी हमारी रक्षा करें। मेरे मनरूपी सरोवर में सिद्धान्त (धवला आदि) पर उपनिबन्ध रचनेवाले मेरे गुरु (श्री वीरसेन) के कोमल पाद-पंकज चिरकाल तक विराजमान रहें। उनकी धवला टीका, साहित्य और चन्द्रमा की तरह निर्मल (पवित्र) कीर्ति, जिसने सम्पूर्ण भुवन को धवल (शुभ्र) बना दिया है, को मैं नमस्कार करता हूँ।

ऊपर उल्लिखित इन श्लोकों में जिन वीरसेन स्वामी का सादर गुणगान उनके समवर्ती आचार्य जिनसेन सूरि पुन्नाट और आचार्य विद्यानन्दि तथा उनके शिष्य आचार्य जिनसेन द्वारा किया गया है, वह आचार्य धरसेन की प्रेरणा से पुष्पदन्त और भूतबलि मुनिद्वय द्वारा उनके लिपिबद्ध किये गये 'षट्खण्डागम' सिद्धान्त ग्रन्थ, जो तीर्थंकर वर्द्धमान महावीर की उनके गणधर इन्द्रभूति गौतम द्वारा बारह अंगों में गूंथी गई वाणी, जो मौखिक श्रुतपरम्परा से सैकड़ों वर्षों से चली आ रही थी, पर आधारित बताया जाता है, पर प्राकृत-संस्कृत-मिश्रित भाषा में 72,000 प्रमाण श्लोकों में 'धवला' नामक टीका तथा आचार्य गुणधर द्वारा गाथा सूत्रों में निबद्ध एक अन्य सिद्धान्त ग्रन्थ 'कषायपाहुड़' (कषायप्राभृत), जिस पर आर्यमंक्षु और नागहस्ति के शिष्यत्व में आचार्य यतिवृषभ द्वारा 'चूर्णि सूत्र' और उच्चारणाचार्य एवं वप्पदेवाचार्य द्वारा 'उच्चारणावृत्तियों' की रचना की गयी थी, पर 'जयधवला' टीका के उक्त मणि-प्रवाल भाषा शैली में प्रथम 20,000 श्लोकों के रचयिता प्रकाण्ड विद्वान आचार्य वीरसेन थे।

वीरसेन के शिष्य आचार्य जिनसेन ने अपने 'आदिपुराण' में अपने गुरु का सादर स्मरण करते हुए उन्हें 'भट्टारक' विशेषण से अभिहित किया ही है, स्वयं वीरसेन ने भी अपनी 'धवला' की पुष्पिका (प्रशस्ति) में 'भट्टारएण टीका लिहिएसा वीरसेणेण' लिखकर अपने को भट्टारक सूचित किया है। यद्यपि जैनेन्द्र सिद्धान्त कोष के अनुसार 'भट्टारक' शब्द सामान्यतः अर्हन्त, सिद्ध और साधु के लिए प्रयुक्त होता है, किन्तु चूंकि कालान्तर में विशेषकर मध्ययुग से यह शब्द मठाधीश जैन मुनि-आचार्यों का पर्यायवाची बन गया, यह आभास होता है कि वीरसेन तथा उनके शिष्य द्वारा उनके लिए प्रयुक्त भट्टारक शब्द कदाचित् उन्हें मात्र 'साधु' सूचित करना नहीं है, अपितु उनका तथाकथित 'भट्टारक' पदवी से अलंकृत होना है। अर्थात् उनके समय तक भट्टारक परम्परा प्रारम्भ हो गई प्रतीत होती है। उसी पुष्पिका में वीरसेन ने अपने को "सिद्धंतछंद जो इस वायरण पमाणसत्थणिवुणेण" अर्थात् सिद्धान्त, छन्द, ज्योतिष, व्याकरण और प्रमाणशास्त्र में निपुण भी सूचित किया है।

'धवला' की इस प्रशस्ति से विदित होता है कि इसके लेखक वीरसेन भट्टारक ने सिद्धान्त ग्रन्थों का अध्ययन किन्हीं 'एलाचार्य' से किया था और यह कि वह पंचस्तूपान्वयी शाखा के मुनि 'आर्यनन्दि' के शिष्य तथा 'चन्द्रसेन' के प्रशिष्य थे। प्रशस्ति के अनुसार – इस 'धवला

टीका' का समापन नरेन्द्र चूड़ामणि बोद्दनराय नरेन्द्र के साम्राज्य में जगतुंगदेव द्वारा शासित प्रदेश में विक्रम संवत् 838 में कार्तिक शुक्ल त्रयोदशी को किया था। उक्त प्रशस्ति-लेख के आधार पर 'धवला' के विद्वान सम्पादकों (स्व. डॉ. हीरालाल जैन एवं स्व. डॉ. ए.एन. उपाध्ये) तथा 'जयधवला' के विद्वान सम्पादकों (स्व. पं. फूलचन्द्र सिद्धान्तशास्त्री, स्व. पं. महेन्द्रकुमार न्यायाचार्य और स्व. पं. कैलाशचन्द्र सिद्धान्तशास्त्री) ने किसी भ्रान्तिवश इसे शक संवत् 738 समझकर वीरसेन का समय 816 ई. मान लिया। प्रशस्ति में "अट्ठतीसम्हि सासिय विक्कमरायम्हि एससंगरमो (पाठान्तर वसुसतोरमे)" पंक्ति में विक्रम संवत् का स्पष्ट उल्लेख है। स्व. डॉ. ज्योतिप्रसाद जैन ने धवला के समय के सम्बन्ध में विभिन्न विद्वानों के मत का विवेचन करते हुए और प्रशस्ति में उल्लिखित संवत्, मास, तिथि और तत्समय लग्न और ग्रहों की स्थिति आदि का परीक्षण करते हुए धवला टीका के समापन की तिथि सोमवार 16 अक्टूबर, 780 ईस्वी निश्चित की है।[4]

'धवला' और 'जयधवला' के विद्वान सम्पादकों ने अपनी प्रस्तावनाओं में बोद्दनराय नरेन्द्र को राष्ट्रकूट नरेश अमोघवर्ष प्रथम (815-76 ई.) से चीन्हा है, जबकि डॉ. ज्योतिप्रसाद जैन के मतानुसार वह अमोघवर्ष नहीं, अपितु राष्ट्रकूट नरेश ध्रुव धारावर्ष (779-793 ई.) था और जगतुंगदेव गोविन्द तृतीय जगतुंग था जो युवराज के रूप में मयूरखण्डी के सेना मुख्यालय का प्रमुख था और अपने पिता के प्रतिनिधि (वाइसराय) के रूप में नासिक देश पर राज्य करता था।[5]

वीरसेन स्वामी की कषायपाहुड की इस प्राभृत व्याख्या जयधवला का समापन उनके शिष्य जिनसेन[6] अपर नाम जयसेन[7] ने उसके कलेवर में 40,000 प्रमाणश्लोकों की अभिवृद्धिकर और उसे 60,000 श्लोकों के बृहद्काय ग्रन्थ में परिणत करते हुए श्रीमद् गुर्जरराय द्वारा अनुपालित (शासित)वाटग्रामपुर में राजा अमोघवर्ष के राज्यकाल में शक संवत् 759 (सन् 837 ईस्वी) में फाल्गुन शुक्ल दशमी के पूर्वाह्न में नन्दीश्वर महोत्सव के अवसर पर किया था।[8] प्रशस्ति, श्रुतावतार, पट्टावलियों और अन्य ग्रन्थों से विदित होता है कि वीरसेन स्वामी ने वाटग्रामपुर के चन्द्रप्रभ जिनालय में रहकर अपने ग्रन्थ रचे थे। कई विद्वानों ने वाटग्राम की पहचान या तो महाराष्ट्र में मान्यखेट[9] अथवा गुजरात राज्य स्थित बड़ौदा[10] से की है, किन्तु डॉ. ज्योतिप्रसाद जैन ने उसे महाराष्ट्र राज्य स्थित नासिक जिले के डिण्डोरी तालुका में बसे वाणी ग्राम से चीन्हा है।[11] तत्कालीन राष्ट्रकूट अभिलेखों में नासिकदेश के वाटनगर विषय का उल्लेख मिलता है और धवला की रचना वीरसेन स्वामी ने जगतुंगदेव के राज्य (शासित प्रदेश) में की थी, जो राष्ट्रकूट नरेश ध्रुव धारावर्ष के युवराज और वाइसराय के रूप में नासिक देश पर शासन कर रहा था। अतः डॉ. जैन द्वारा वाटग्राम का वाणीग्राम से किया गया समीकरण समीचीन प्रतीत होता है।

डॉ. ज्योतिप्रसादजी के मतानुसार पंचस्तूपान्वय[12] जैन गुरुओं का एक प्राचीन संघ है जो मूलतः उत्तर भारत में मथुरा अथवा हस्तिनापुर में उद्भूत हुआ था तथा वाराणसी और बंगाल तक फैला हुआ था। इसी संघ की एक शाखा छठी अथवा सातवीं शताब्दी ईस्वी में दक्षिण भारत चली गई लगती है।[13] नवीं शताब्दी के बाद से इस अन्वय के गुरुओं ने अपना नाम सेनगण

परिवर्तित कर लिया प्रतीत होता है। आचार्य इन्द्रनन्दि के श्रुतावतार से विदित होता है कि वीरसेन स्वामी ने जिन एलाचार्य से सिद्धान्त का अध्ययन किया था वे चित्रकूटपुर के निवासी थे। कुछ विद्वानों ने चित्रकूटपुर की पहचान दक्षिण भारत के चित्तलदुर्ग नामक स्थान से और कुछ ने मध्य भारत के चित्रकूट (उत्तर प्रदेश के बांदा जिले में स्थित चित्रकूट) से की है, किन्तु डॉ. ज्योतिप्रसादजी उसे राजस्थान का चित्तौड़ मानते हैं क्योंकि वह उस समय का एक प्रमुख जैन केन्द्र था और चित्रकूटपुर नाम से भी पुकारा जाता था। डॉ. जैन की मान्यता है कि स्वयं वीरसेन मूलतः चित्तौड़ के रहनेवाले थे जो बाद में प्रवासकर राष्ट्रकूट साम्राज्यान्तर्गत नासिक के समीपवर्ती वाटग्राम की प्राचीन काम्भार-लेण गुहाओं में बस गये थे। आठवीं शताब्दी के मध्य के लगभग एलाचार्य, सातवीं शताब्दी के अन्तिम पाद में चन्द्रसेन और आठवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में आर्यनन्दि के विद्यमान होने का प्रमाण मिलता है।[14] अतः वीरसेन स्वामी के एलाचार्य से सिद्धान्त का अध्ययन करने और उनके चन्द्रसेन का प्रशिष्य एवं आर्यनन्दि का शिष्य होने की बात पुष्ट होती है।

वीरसेन ने अपने ग्रन्थों में अपने पूर्ववर्ती अकलंकदेव (625-75 ई.) और धनञ्जय (लगभग 700 ई.) का उल्लेख किया है और उनकी कृतियों से सन्दर्भ दिये हैं। उनके शिष्य जिनसेन ने जयधवला प्रशस्ति में उनका गुणगान करते हुए यह भी अंकित किया है –

पुस्तकानां चिरत्नानां गुरुत्वमिह कुर्वता ।
येनातिशयिताः पूर्वे सर्वे पुस्तकाशिष्यकाः ॥ 24 ॥

अर्थात् उन्होंने चिरन्तन काल की पुस्तकों में गुरुता प्राप्त की और इस कार्य में अतिशय प्राप्तकर वे अपने से पूर्व के समस्त पुस्तक-पाठियों से आगे बढ़ गये। अतएव वीरसेन एक अच्छे पुस्तकसंग्रह के स्वामी रहे होंगे। पूर्ववर्ती आगम, साहित्य आदि के अच्छे ज्ञान और अपनी प्रतिभा द्वारा वीरसेन स्वामी ने आगम-सूत्रों को चमका दिया और पूर्ववर्ती अनेक टीकाओं को अस्तमित कर दिया। वह सिद्धभू पद्धति नामक गणितशास्त्रीय कृति के प्रणेता भी माने जाते हैं।

स्व. पं. नाथूराम प्रेमी ने अपनी विद्वद्रत्नमाला नामक लेखमाला में वीरसेन स्वामी का जीवनकाल शक सं. 665 से 745 (ई. सन् 743 से 823) अनुमानित किया था। धवला की समाप्ति का समय शक सं. 738 (ई. सन् 816) मानते हुए अन्य अनेक विद्वानों ने भी उन्हें राष्ट्रकूट नरेश अमोघवर्ष (815-76 ई.) का समकालीन माना है, किन्तु डॉ. ज्योतिप्रसादजी ने वीरसेन स्वामी, जिनका जीवनकाल 80 वर्ष था, का समय 710-790 ईस्वी निर्धारित किया है,[15] जो अन्तः एवं बाह्य साक्ष्यों के आधार पर युक्तियुक्त प्रतीत होता है।

1. हरिवंशपुराण (समय 783 ई.), आचार्य जिनसेनसूरि पुन्नाट, 1.39।
2. अष्टसहस्री (समय 792 ई.), पुष्पिका, आचार्य विद्यानन्दि ।
3. आचार्य जिनसेन (समय लगभग 770-850 ई.) कृत आदिपुराण, प्रथम पर्व, श्लोक 55-58। ऊपर उद्धृत पाठ पं. पन्नालाल जैन साहित्याचार्य द्वारा सम्पादित और भारतीय ज्ञानपीठ, काशी द्वारा सन् 1963 ई. में प्रकाशित 'आदिपुराण' में पृष्ठ 11 पर मुद्रित

पाठ के अनुसार है, किन्तु स्व. डॉ. हीरालाल जैन एवं स्व. डॉ. ए. एन. उपाध्ये द्वारा सम्पादित और जैन संस्कृति संरक्षक संघ, सोलापुर ने सन् 1973 ई. में प्रकाशित षट्खण्डागम की वीरसेनाचार्य विरचित 'धवला टीका' के प्रथम खण्ड (सत्प्ररूपणा) की प्रस्तावना की पृष्ठ 33 पर मुद्रित पाद-टिप्पणी में उद्धृत इन श्लोकों में ऊपर रेखांकित अंशों में पाठान्तर है, यथा – इत्याप्त, वादिवृन्दारको, वाग्मितो वाग्मिनो, शुचिनिर्मलां, तां नमाम्यहम् ।

4. 'श्री धवला का समय', अनेकान्त, वर्ष सात, किरण 7-8, पृ. 207-214 तथा 'दि जैना सोर्सेज ऑफ दि हिस्ट्री ऑफ एन्शियेन्ट इण्डिया, पृ. 187।

5. 'धवला प्रशस्ति के राष्ट्रकूट नरेश', अनेकान्त, वर्ष आठ, किरण 2, पृ. 97-101 तथा 'दि जैना सोर्सेज' पृ. 187।

6. तस्य शिष्योऽभवच्छ्रीमान् जिनसेनः समिद्धधीः।
अविद्धावपि यत्कर्णौ विद्धौ ज्ञानशलाकया ॥ 27 ॥ – जयधवला प्रशस्ति

7. प्राकृतसंस्कृतभाषामिश्रां टीकां विलिख्य धवलाख्याम् ।
जयधवलां च कषायप्राभृतके चतसृणां विभक्तीनाम् ॥ 82 ॥
विंशतिसहस्रसद्ग्रन्थरचनया संयुतां विरच्य दिवम् ।
यातस्ततः पुनस्तच्छिष्यो जयसेन गुरूनामा ॥ 83 ॥
तच्छेषं चत्वारिंशता सहस्रैः समापितकान् ।
जयधवलैवं षष्ठीसहस्रग्रन्थोऽभवट्टीका ॥ 84 ॥ – श्रुतावतार, आचार्य इन्द्रनन्दि

8. इति श्री वीरसेनीया टीका सूचार्थदर्शिनी।
वाटग्रामपुरे श्रीमद्गुर्जरायानुपालिते ॥ 6 ॥
फाल्गुणे मासि पूर्वान्हे दशम्यां शुक्लपक्षके।
प्रवर्द्धमानपूजोरूनन्दीश्वरमहोत्सवे ॥ 7 ॥
अमोघवर्षराजेन्द्रराज्यप्राज्यगुणोदया ।
निष्ठिता प्रचयं यायादाकल्पान्तमनल्पिका ॥ 8 ॥
एकान्तषष्ठिसमधिक सप्तशताब्देषु शकनरेन्द्रस्य।
समतीतेषु समाप्ता जयधवला प्राभृतव्याख्या ॥ 11 ॥ – जयधवला प्रशस्ति

9. जर्नल ऑफ बंगाल बिहार रॉयल एशियाटिक सोसायटी, भाग अठारह, पृ. 226।
पं. नाथूराम प्रेमी का जैन साहित्य और इतिहास, पृ. 497।
जिनरत्नकोश, पृ. 133।

10. जयधवला, खण्ड-1, प्रस्तावना।

11. डॉ. ज्योतिप्रसाद जैन का लेख – 'The Birthplace of Dhavala and Jayadhavala', जैन एक्टीक्वेरी, वर्ष पन्द्रह, किरण-2, पृ. 46-57।

12. दि जैना सोर्सेज ऑफ दि हिस्ट्री ऑफ एन्शियेन्ट इण्डिया, पृ. 188।

13. जैन सिद्धान्त भास्कर, वर्ष सोलह, किरण 1, पृ. 1-6, पहाड़पुर लेख, गुप्त संवत् 159।

एपिग्रेफिया इन्डिका, भाग बीस, पृ. 59-64।

एपिग्रेफी कर्णाटिका, भाग दो, 75, पृ. 38, 40-41, जे.पी. जैन की पुस्तक हस्तिनापुर।

14. 'The Predecessors of Svami Virasena', जे. पी. जैन, जैन एक्टीक्वेरी, वर्ष बारह, किरण 1, पृ. 1-6।

15. दि जैना सोर्सेज ऑफ दि हिस्ट्री ऑफ एन्शियेन्ट इण्डिया, पृ. 189।

ज्योति निकुंज
चारबाग
लखनऊ - 226004

पंचस्तूपान्वयी भट्टारक श्री वीरसेन स्वामी

– श्री कुन्दनलाल जैन

•

आचार्य वीरसेन स्वामी भट्टारक ने अब से लगभग 1200 वर्ष पूर्व राष्ट्रकूट नरेश महाराजा राजा जगतुंग के बाद अमोघवर्ष प्रथम के राज्य में शक संवत् 738 के लगभग षट्खण्डागम की धवला टीका समाप्त की थी, जैसा कि धवला की प्रशस्ति में उल्लिखित है –

जस्स सेसाएण (पसाएण) मए सिद्धन्तमिदं हि अहिलहुंदी (अहिलहुंद)
महुसो एलाइरियां पसियउवरवीरसेणस्स ॥1॥

वंदामि उसहसेणं तिहुवण-जिय-वंधवं सिवं संतं ।
णाणु किरणावहासिय सयल इयए तम पणासियं दिट्ठं ॥2॥

अरहुंतपदो भगवंतो सिद्धा सिद्धा पसिद्ध आइरिया ।
साहू साहूयमहं पसियंतु भडारया सव्वे ॥3॥

अज्जज्जणंदि सिस्सेणुज्जुव कम्मस्स चंदसेणस्स ।
तहणत्तुवेण पंचत्थुहण्यं भाणुणोमुणिणा ॥4॥

सिद्धन्त-छंद-जोइस-वायरण-पमाण-सत्थ णिवुणेण।
भट्टारएण टीका लिहिएसा वीरसेणेण ॥5॥

अछतीसम्हिसतसए विक्कमरायंकिएसुसगणीमे ।
वासेसुतेरसीए भाणुविलग्गे धवलपक्खे ॥6॥

जगतुंगदेवरज्जे रियम्हि कुम्भम्हि राहुणाकाणे ।
सूरेतुलाए संते गुरुम्हि कुलविल्लए होंते ॥7॥
चावम्हि तरणिवुत्ते सिंधे सुक्कम्मि मीणे चंदम्मि ।
कत्तिय मासे एसा टीका हु समाणिया धवला ॥8॥
वोद्दणराय-णरिंदे णरिंदचूड़ामणिम्हि भुंजंते ।
सिद्धंतगंथमत्थिण गुरुप्पसाएण विगत्तासा ॥9॥

उपर्युक्त गाथा से ज्ञात होता है कि इस धवला टीका (जो अपने आप में मूलग्रंथ से भी अधिक श्रेष्ठतम है) के रचयिता श्री वीरसेनाचार्य हैं। इनके विद्यागुरु एलाचार्य और दीक्षागुरु आर्यनंदि तथा दादागुरु चन्द्रसेन हैं। टीकाकार ने भगवान ऋषभदेव की वंदना की है – जिनकी ज्ञानरूपी सूर्य की किरणावली से समस्त अज्ञानांधकार नष्ट हुआ। अरहंत, सिद्ध, साधु और आचार्य सभी कृपावंत हों। टीकाकार सिद्धान्त, छंद, ज्योतिष, व्याकरण, प्रमाण, न्याय, क्रियाकांड आदि विषयों में निष्णात हैं और भट्टारक पदवी से सुशोभित हैं। शक संवत् 738 के कार्तिक मास शुक्ल पक्ष की तेरस के दिन राजा जगतुंग के बाद वोद्दणराय (अमोघवर्ष प्रथम) के राज्यकाल में यह टीका समाप्त हुई। इस तिथि में सूर्य, चन्द्र, राहु आदि किस स्थिति में थे इसका भी दिग्दर्शन कराया है जो उनकी ज्योतिष संबंधी विदग्धता का द्योतक है।

उपर्युक्त गाथाओं में से चौथी गाथा में 'पंचत्थुहण्यं' शब्द से स्वामी वीरसेन आचार्य स्वयं को पंचस्तूपान्वयी घोषित करते हैं। पंचस्तूपान्वयी क्या था – इस पर हम यहां विशद प्रकाश डालना चाहते हैं। दिगम्बर सम्प्रदाय के मूलसंघ की वह एक विशिष्ट शाखा थी जो बाद में आचार्य अर्हद्बली के वर्गीकरण के बाद सेनान्वय या सेनसंघ के नाम से प्रसिद्ध हुई। पंचस्तूप का उल्लेख करते हुए आचार्य हरिषेण ने अपने 'कथाकोश' में मथुरा का वर्णन करते हुए वहाँ पंचस्तूपों के निर्माण का उल्लेख किया है –

महाराजन् ! निर्माणान् खचितान् मणिनाम् वै ।
पंचस्तूपान्विधायाग्रै समुच्चजिनवेश्मनाम् ॥

पंचस्तूपान्वय निर्ग्रन्थ साधुओं का ईसा की पांचवीं सदी में एक प्रसिद्ध संघ था। इसके आचार्य गुहनन्दी का उल्लेख पहाड़पुर (जिला – राजशाही, बंगाल) से प्राप्त ताम्रपत्र में मिलता है। इसमें लिखा है कि गुप्त संवत् 159, ईस्वी सन् 478 में नाथशर्मा नामक ब्राह्मण द्वारा पंचस्तूपान्वयी आचार्य गुहनन्दी के बिहार में अर्हन्तों की पूजा-अर्चा के लिए ग्रामों और अशर्फियों का दान दिया गया (एपिग्राफिका इंडिका, भाग 10, पृष्ठ 59)। आचार्य जिनसेन स्वामी ने गुरुणांगुरु आचार्य वीरसेन स्वामी की अपूर्ण जयधवला टीका को समाप्त करते हुए प्रशस्ति में वीरसेन स्वामी को पंचस्तूपान्वयी लिखा है। साथ ही अपने गुरु वीरसेन की प्रशंसा में बहुत कुछ लिखा जो निम्न दस श्लोकों में पठनीय है –

भूयादावीरसेनस्य वीरसेनस्य शासनम् ।
शासनम् कीरतेनस्य वीरसेन कुशेशयम् ॥7॥

आसीदासीदासन्नभव्यसत्व कुमुदवतीम् ।
मुद्वर्तींकर्त्तुमीशो यः शशांको इव पुष्कलः ॥8॥
श्रीवीरसेन इत्यात्तभट्टारक पृथुप्रथः ।
पारदृश्वाधिविश्वानां साक्षादिव स केवली ॥9॥
प्रीणितप्राणीसंपत्तिराक्रान्ताशेष गोचरा ।
भारती भारतीवाज्ञा षटखण्डैयस्य नास्खलत् ॥10॥
यस्य नैसर्गिकीं प्रज्ञां दृष्ट्वा सर्वार्थगामिनीम् ।
जाताः सर्वज्ञसदभावे निरारेका मनीषिणः ॥21॥
यं प्राहुः स्फुरदबोधदीधितिप्रसरोदयम् ।
श्रुतकेवलिनम् प्राज्ञाः प्रज्ञाश्रमण सत्तमम् ॥22॥
प्रसिद्धसिद्धसिद्धान्तवार्धिवार्धित शुद्धधौः ।
सार्द्ध प्रत्येकबुद्धैर्यः स्पर्धतः धीद्धबुद्धिभिः ॥23॥
पुस्तकानां चिरत्नानां गुरुत्वमिहकुर्वता ।
येनातिशयिताः पूर्वे सर्वे पुस्तकशिष्यकाः ॥24॥
यस्तपोदीप्तकिरणैभव्या भोजानि बोधयन् ।
व्यद्योतिष्ट मुनीनेन पंचस्तूपान्वयाम्बरे ॥25॥
प्रशिष्यश्चन्द्रसेनस्य यः शिष्योऽप्यार्यनंदिनाम् ।
तस्यशिष्यांऽभवच्छ्रीमान् जिनसेनमिद्धधीः ॥26॥

उपर्युक्त उद्धरणों से प्रमाणित होता है कि केवल आचार्य वीरसेन स्वामी ही नहीं अपितु उनके गुरु आदि और पश्चाद्वर्ती शिष्य-प्रशिष्य भी पंचस्तूपान्वयी शाखा से संबंधित बने रहे।

पंचस्तूपान्वयी शाखा मथुरा या मथुरा के आस-पास के प्रदेश से संबंधित थे। दसवीं सदी के आचार्य इन्द्रनंदि ने अपने 'श्रुतावतार' नामक 187 श्लोकों वाली छोटी-सी रचना में मुनिसंघों के वर्गीकरण की रोचक घटना प्रस्तुत की है। आचार्य अर्हद्बली ने पुण्ड्रवर्धनपुर में शतयोजनवर्ती मुनियों को एकत्र कर युगप्रतिक्रमण किया, जब सब मुनिजन आ गये तो समागत मुनियों से आचार्यश्री ने पूछा कि क्या सभी मुनिजन आ गये हैं? उन्होंने उत्तर दिया कि हाँ भगवन ! हम सब अपने-अपने संघसहित आ गये हैं। यह उत्तर सुनकर आचार्यश्री ने निश्चय किया कि अब जैनधर्म निष्पक्ष, भेदभाव से रहित नहीं रह सकेगा, निश्चय ही जैनधर्म में गणगच्छ-संघ आदि भेदों का समन्वय जरूरी हो गया है। अतः आचार्यश्री ने विभिन्न-संघों और गणों की स्थापना की। जो मुनि गुहा से आये थे उनमें से कुछ 'नन्दि' और कुछ 'वीर' संज्ञा से विख्यात हुए। जो अशोक वाटिका से आये थे उनमें से कुछ को 'अपराजित' और कुछ को 'देव' संज्ञा दी गई। जो मुनि पंचस्तूपों (मथुरा जनपद) से आये थे उनमें से कुछ को 'सेन' और कुछ को 'भद्र' नाम से संबोधित किया गया। जो मुनि शाल्मलि वृक्ष (सेमर) के मूल (कोटर) से आये थे उन्हें किसी को 'गुणधर' और किसी को 'गुप्त' कहा गया। जो खण्डकेसर (नागकेशर) के मूल से आये थे उनमें से कुछ को 'सिंह' कुछ को 'चन्द्र' संज्ञा दी गई। आगे आचार्य इन्द्रनंदि ने

'अन्येजगु:' कहकर कुछ मतभेद का उल्लेख भी किया है कि जो मुनि गुहा से आये थे उन्हें 'नन्दि', जो अशोकवन से आये थे उन्हें 'देव', जो पंचस्तूप से आये थे उन्हें 'सेन', जो सेमर वृक्ष के मूल से आये थे उन्हें 'वीर' और जो नागकेशर के मूल से आये थे उन्हें 'भद्र' की संज्ञा दी गई। किन्ही अन्य के मतभेद से गुहावासी 'नन्दि', अशोकवनवासी 'देव', पंचस्तूपवासी 'सेन', सेमरवृक्षवासी 'वीर' और नागकेसरवाले 'भद्र' तथा 'सिंह' कहलाये। जैसा कि निम्न श्लोकों से ज्ञात होता है –

गुहायाः समागता ये मुनीश्वरास्तेषु ।
कांश्चिन्नधभिधानान कांश्चिद्वीरह्वयानकरोत् ॥91॥
प्रथितादशोकवाटात्समागता ये यतीश्वरास्तेषु ।
कांश्चिद् पराजिता ख्यान्कांश्चिदेवाह्वयानकरोत् ॥92॥
पंचस्तूप्यनिवासादुपागता येऽनगारिणस्तेषु ।
कांश्चितत्सेनाभिख्यान्कांश्चिद्भद्राभिधान करात् ॥93॥
ये शाल्मलीमहाद्रुममूलाद्यतयोऽभ्युपागतास्तेषु ।
कांश्चिद्गुणधरसंज्ञान्कांश्चिद्गुप्ताह्वयान करोत् ॥94॥
ये खण्डकेसरद्रुममूलान्मुनयः समागतास्तेषु ।
कांश्चित्संहाभिख्यान्कांश्चिचच्चन्द्राह्वयानकरोत् ॥95॥
अन्येजगुर्गुहायाः विनिर्गतानन्दिनो महात्मानः ।
दैवाश्चाशोकवनात्वंचरतूप्यास्ततः सेनः ॥96॥
विपुलतरशाल्मली द्रुममूलगतावासवासिनो वीराः ।
भद्राश्चखण्डकेसर-तरुमूल-निवासिनो जाताः ॥97॥
गुहायाः वासितोज्येष्ठो द्वितीयोऽशोकवाटिकात् ।
निर्यातौ नंदिदेवाभिधानावाद्यावनुक्रमात् ॥98॥
पंचस्तूप्यास्तुसेनानां वीराणां शाल्मलीद्रुमः ।
खण्डकेसरनामा च भद्र सिंहोऽस्य सम्मतः ॥99॥

इस तरह पंचस्तूपान्वय सेनसंघ या सेनगण के नाम से विख्यात हुआ जिसके सभी आचार्य सेनान्त नाम से प्रसिद्ध हुए। उपर्युक्त पंचस्तूपान्वय की चर्चा को यहीं समाप्त करते हुए आचार्य वीरसेन स्वामी की अन्य विशेषताओं पर प्रकाश डालेंगे।

श्री वीरसेन स्वामी 'भट्टारक' पदवी से अलंकृत थे जो अत्यधिक महनीय और गरिमामयी थी। वे 17वीं-18वीं सदी के भट्टारकों की भांति शिथिलाचारी नहीं थे, अपितु सर्वसम्मत परम-आदरणीय उपाधि से अलंकृत थे। उनके गुरु, दादागुरु तथा शिष्य-प्रशिष्य भी 'भट्टारक' की उपाधि से अलंकृत थे। जैसा कि भगवज्जिनसेनाचार्य ने आचार्य वीरसेन स्वामी की प्रशंसा करते हुए उनकी विशेषताओं का जयधवला की प्रशस्ति में उल्लेख किया है। उन्हें हम यहाँ संक्षिप्त रूप से लिखना चाहते हैं। स्वयं आचार्य वीरसेन ने अपने को 'सिद्धन्त छंद जोइस' आदि गाथा द्वारा विभिन्न विषयों का ज्ञाता लिखा है तथा भगवज्जिनसेनाचार्य ने भी पुष्टि की है उससे उनकी बहुविध प्रतिभा का परिचय उनकी टीका में उपलब्ध होता है।

सर्वप्रथम उनकी विशेषता थी '**बहुश्रुतशालिता**'। आचार्य वीरसेन स्वामी के समय तक जैन तत्वज्ञान संबंधी अपार श्रुत भण्डार तैयार हो चुका था जिसका उन्होंने बड़ी गंभीरता से पारायण एवं चिन्तन-मनन किया था। उन सबका उल्लेख उन्होंने ग्रंथों का उल्लेख करते हुए आचार्यों का नाम लिखकर तथा 'वुत्तंच, उक्तंच, भणितम् च भणियं च' आदि शब्दों द्वारा उस श्रुत सामग्री का उल्लेख किया है जिसका उन्होंने पारायण किया था। इससे विदित होता है कि वे बहुश्रुतज्ञ थे। उनकी दूसरी विशेषता थी '**सिद्धान्त-पारगमिता**'। धवला टीका में उन्होंने गुणस्थान, जीवसमास, पर्याप्ति, प्राण, संज्ञा, गति, इन्द्रियादि 14 मार्गणाओं; उपयोग आदि 20 प्ररूपणाओं की सत्प्ररूपणादि सूत्रों में जो विस्तृत और गंभीर चर्चा की है उससे उनके जैन-सिद्धान्त-विषयक अगाध ज्ञान का परिचय सरलता से जाना जा सकता है। तीसरी विशेषता थी उनकी '**ज्योतिर्विदत्व**'। वे ज्योतिष-शास्त्र के विशेषज्ञ और मर्मज्ञ विद्वान थे। जिसका सरल-सा उदाहरण धवला टीका प्रशस्ति की 6-7-8वीं गाथा से विदित हो जाता है। धवला टीका समाप्ति के समय सूर्य-चन्द्रादि ग्रहों की क्या स्थिति थी? आगम द्रव्य कृति के प्रसंग में वाचना के भेद नन्दा, भद्रा, जया, सौम्या आदि का उल्लेख उनके ज्योतिर्विदत्व का प्रमाण है। चौथी विशेषता '**गणितज्ञता**' थी। जहाँ उन्होंने कृति के भेद किये हैं उनमें से चौथी गणना कृति के प्रसंग में सूत्र 66 को देशामर्शक बताकर धन, ऋण और धन-ऋण गणित को प्ररूपणीय कहा है। आगे इन तीनों के स्वरूप को प्रकट करते हुए संकलना, वर्ग, वर्गावर्ग, धन, धनाधन कलासवर्ण, त्रेराशिक, पंचराशिक, व्युत्कलना भागहार, क्षयक और कुट्टा-कार आदि का उल्लेख उनकी गणितज्ञता का द्योतक है। उनकी पाँचवीं विशेषता है '**व्याकरण-पटुता**'। सारी धवला टीका में जहाँ-तहाँ धातु, विभक्ति, समास, संधि का विशदता से विश्लेषण किया है। छठी विशेषता है '**न्यायनिपुणता**'। धवला टीका में प्रायः शंकाएं उठाकर स्वयं ही उनका समाधान तार्किक-दृष्टि से करना तथा वादी-प्रतिवादी के रूप में उनका विश्लेषण कर प्रमाण, प्रमेय, व्याप्ति, सत्, असत् साध्य-सिद्धि, कार्य-कारण भाव आदि न्याय-संबंधी युक्तियों का सबलता से प्रयोग हुआ है। सातवीं और अन्तिम विशेषता है '**काव्यप्रतिभा**'। आचार्य वीरसेन स्वामी जहां व्याकरण और न्याय जैसे रुक्ष और कठोर विषयों के विशेषज्ञ थे वहीं वे काव्य जैसी सरल-सरस एवं सुकोमल पदावली के सर्जक भी थे। उनकी धवला टीका में जहाँ-तहाँ उपमा, रूपक, अनुप्रास, यमक, विरोधाभास आदि अलंकारों के दर्शन होते हैं वहाँ विभिन्न प्रकार के छन्दों का भी प्रयोग प्रचुरता से उपलब्ध होता है। यमकालंकार का एक उदाहरण देखिए –

पणमहकयभूयबलिं भूयवलिं केसवासपरिभयबलिं ।
विणिहयबम्हहपसरं वड्ढावियविमलणाणं बम्हहपसरं ।।

इन सबके अतिरिक्त आचार्य श्री वीरसेन स्वामी मंत्र-तंत्र और क्रिया-काण्ड के भी विशेषज्ञ और विदग्ध विद्वान थे। अपने गुरु वीरसेन स्वामी की स्तुति करते हुए भगवज्जिनसेनाचार्य ने अपने आदिपुराण की उत्थानिका में लिखा है –

श्री वीरसेन इत्याप्त भट्टारक पृथुप्रथः ।
स नः पुनातु पूतात्मा वादिवृन्दारको मुनिः ॥
लोकवित्वं कवित्वं च स्थितं भट्टारकेदृयम् ।
वाग्मितावाग्मिनोयस्यवाचा वाचास्तपतेरपि ॥
सिद्धान्तोपनिबन्धानां विधातुर्मद्रगुरोश्चिरम् ।
मन्मनः सरसि स्थेयान् मुदुपादकुशेशयम् ॥
धवला भारतीं तस्य कीर्तिं च शुचिनिर्मलाम् ।
धवलीकृत निःशेष भुवानां तां नमाम्यहम् ॥

हरिवंशपुराण के कर्ता श्री जिनसेनाचार्य ने आचार्य वीरसेन की प्रशंसा करते हुए लिखा है कि वे कवियों के चक्रवर्ती, निर्दोष कीर्तिवाले, जिन्होंने स्व पर और लोक पर विजय प्राप्त कर ली ऐसे वीरसेन गुरु संसार में विख्यात हैं –

जितात्म परलोकस्य कवीनां चक्रवर्तिनः ।
वीरसेनगुरोः कीर्तिरकलङ्कावभासते ॥ 1.39॥

भगवत् जिनसेन के प्रशिष्य लोकसेन ने उत्तरपुराण की प्रशस्ति में आचार्य वीरसेन स्वामी की स्तुति करते हुए लिखा है कि वे प्रवादियों को परास्त करनेवाले, ज्ञानचारित्रादि सामग्री से सुशोभित शरीरवाले, परमश्रेष्ठ भट्टारक वीरसेन स्वामी थे –

तत्र वित्रासिताशेष प्रवादिभद्चारणः ।
वीरसेनाग्रणी वीरसेन भट्टारकौ वभौ ॥
ज्ञानचारित्रसामग्रीम ग्रहीदीवविग्रहम् ॥

आचार्य वीरसेन का कुछ विस्तृत परिचय देते हुए दशवीं सदी के आचार्य इन्द्रनंदि ने अपने 'श्रुतावतार' में लिखा है कि – वप्पदेव गुरु द्वारा सिद्धान्त-ग्रन्थों की टीका लिखे जाने के कितने ही काल पश्चात् प्रसिद्ध सिद्धान्तज्ञ श्री एलाचार्य हुए जो चित्रकूट (चित्तौड़) में रहते थे। श्री वीरसेन स्वामी ने उनसे सिद्धान्त-तत्वों का अध्ययन किया और उन पर निबंधनादि आठ अधिकार लिखे, फिर उनकी आज्ञा पाकर वे वाटग्राम पधारे जहाँ आनतेन्द्र द्वारा निर्मित जिनालय में ठहरे, जहाँ उन्हें वप्पदेव की व्याख्या-प्रज्ञप्ति टीका मिल गई, तब वीरसेन स्वामी ने बन्धनादि अठारह अधिकार पूरे कर सत्कर्म नाम का छठा खंड संक्षेप में तैयार किया और इस तरह छः खंडों की 72 हजार श्लोकप्रमाण प्राकृत-संस्कृत-मिश्रित धवला टीका तैयार हो गई। पश्चात् कषाय प्राभृत की चार विभक्तियों की 20 हजार श्लोकप्रमाण 'जयधवला' टीका लिखकर स्वर्गवासी हो गये, जिसे उनके शिष्य जिनसेन ने 40 हजार श्लोकप्रमाण और टीका लिखकर पूर्ण किया इस तरह जयधवला 60 हजार श्लोकप्रमाण टीका हुई, यथा –

कालगते कियात्यपि ततः पुनश्चित्रकूटपुरवासी ।
श्रीमानेलाचार्यो वभूव सिद्धान्ततत्वज्ञः ॥ 177 ॥
तस्य समीवे सकलं सिद्धान्तमधीत्य वीरसेनगुरुः ।
उपरितम निबंधनाद्यधिकारानष्ट च लिलेख ॥ 178 ॥
आगत्य चित्रकूटात्ततः स भगवान्गुरोरनुज्ञानात् ।
वाटग्रामे चात्रार्नतेन्द्रकृत जिनगृहे स्थितवा ॥ 179 ॥
व्याख्याप्रज्ञप्तिमवाप्य पूर्ववाटखण्डतस्ततस्तस्मिन् ।
उपरितम निबन्धानाद्यधिकारैरष्टादशाविकल्पैः ॥ 180 ॥
सत्कर्मनामधेयं षष्ठखण्डं विधाय संक्षिप्य ।
इति षण्णां खण्डानां ग्रंथ सहस्त्रैद्विसप्तत्या ॥ 181 ॥
प्राकृत संस्कृतभाषामिश्रां टीकां विलिख्य धवलाख्याम् ।
जयधवलां च कषाय प्राभृतके चतसृणां विभक्तीनाम् ॥ 182 ॥
विशंति सहस्त्रसदग्रंथरचनया संयुतां विरच्य दिवम् ।
यतस्ततः पुनस्तच्छिष्यो जिनसेन गुरुनामा ॥ 183 ॥
तच्छेषं चत्वारिंशता सहस्त्रैः समापितवान् ।
जयधवलेवं षष्ठिसहस्त्र ग्रंथोऽभवट्टीका ॥ 184 ॥

– श्रुतावतार

आचार्य वीरसेन स्वामी के रचनाकाल और जीवनकाल के विषय में विशिष्ट शोध करते हुए श्रद्धेय स्व. नाथूरामजी प्रेमी ने अपनी 'विद्वत्रत्नमाला' शीर्षक लेखमाला में भगवज्जिसेनाचार्य के समय का उल्लेख विस्तारपूर्वक किया है, उसी के आधार पर आचार्य वीरसेन स्वामी की आयु 80 वर्ष के लगभग अनुमानित की जाती है। उनका जीवनकाल शक सं. 665 से 745 तक प्रमाणित होता है। इस विषय में बहुत खोज, विचार-विमर्श हो चुका है अतः विशेष चर्चा की आवश्यकता अनुभव नहीं की जाती है।

आचार्य श्री वीरसेन स्वामी ने अपनी टीका का नाम 'धवला' क्यों सुनिश्चित किया इस पर कुछ विचार-विमर्श किसी ने नहीं किया अतः यहाँ दो अनुमान प्रस्तुत किये जा रहे हैं – पहला तो यह कि यह धवल (शुक्ल) पक्ष में समाप्त हुई थी अतः उन्हें 'धवला' शब्द उपयुक्त जंचा हो; दूसरा अनुमान है – महाराजा अमोघवर्ष प्रथम जिनके शासनकाल में यह टीका हुई थी। वे 'अतिशय धवल' उपाधि से अलंकृत थे अतः उनकी इस उत्कृष्ट उपाधि से ही आचार्य श्री को अपनी टीका का नाम 'धवला' देना उपयुक्त जंचा हो। उदाहरणार्थ – स्व. डॉ. आ. ने. उपाध्ये ने जब अपना मकान कोल्हापुर में बनवाया था तो उसका नाम 'धवला' रखा जिसके पीछे उनकी इस धवला टीका के प्रकाशन में सहयोग व इसकी विशिष्टता से प्रभावित सद्भावना व उत्कृष्ट विचार ही कारण रहा था।

आचार्य वीरसेन ने जब धवला टीका रची थी तब इससे पूर्व षट्खण्डागम पर पाँच और टीकाओं का उल्लेख मिलता है। पर उन पाँचों टीकाओं में से आज एक भी टीका उपलब्ध नहीं है लगता है, विरोधियों द्वारा इतना अपार जैन श्रुतभण्डार नष्ट किया गया था उसी में ये टीकाएं नष्ट हो गई हों या देश-विदेश के शास्त्र-भण्डारों में कहीं छिपी पड़ी हों जिन्हें खोजने की आवश्यकता है। यदि ये टीकाएं उपलब्ध हो जाती हैं तो आगमज्ञान के अनेक अभूतपूर्व तथ्यों के रहस्य ज्ञात हो सकते हैं तथा जैन साहित्य के इतिहास के ज्ञान में अभूतपूर्व अभिवृद्धि हो सकती है। इनमें से पहली टीका आचार्य कुन्दकुन्द (पद्मनन्दि) द्वारा लिखित 'परिकर्म टीका' है जो विक्रम की पहली या दूसरी सदी में लिखी गई थी। दूसरी टीका आचार्य श्यामकुण्डकृत 'पद्धति टीका' है जो शायद तीसरी सदी में लिखी गई होगी। यह टीका संस्कृत-प्राकृत और कन्नड़ मिश्रित भाषा में लिखी गई थी। तीसरी टीका तुम्बुलुराचार्य कृत 'चूड़ामणि' टीका है जो चौथी सदी में लिखी गई होगी। साथ ही सात हजार श्लोकप्रमाण 'पंजिका टीका' भी है यह कन्नड़ भाषा में रची गई थी। चौथी टीका आचार्य समन्तभद्र कृत 'द्वितीय सिद्धान्त ग्रन्थ' है जो पाँचवीं सदी में लिखा गया होगा और पाँचवीं टीका श्री वप्पदेव गुरु कृत 'व्याख्याप्रज्ञप्ति' टीका है जो संभवत: छठी से आठवीं सदी के बीच रची गई होगी। इसी को देखकर आचार्य वीरसेन ने चित्रकूट से आकर वाटग्राम के आनतेन्द्र द्वारा निर्मित जिनालय में बैठकर 'सत्कर्म' की रचना की थी। इन टीकाओं के ज्ञान का स्रोत दसवीं सदी के आचार्य इन्द्रनंदी का 'श्रुतावतार' ही है। इसमें कितनी प्रामाणिकता है और कितनी कल्पना है इसका निर्णय तत्त्वान्वेषी इतिहास-प्रेमी पाठकों को करना चाहिए। इसका कुछ विश्लेषण पं. श्री बालचन्द्र शास्त्री ने अपने 'षट्खण्डागम परिशीलन' नामक विशाल ग्रन्थ में सप्रमाण विस्तारपूर्वक किया है। आचार्य वीरसेन की 'धवला' और 'जयधवला' टीकाएं तो प्रसिद्ध और प्रकाशित हैं पर एक और टीका 'सिद्धभूपद्धति' का उल्लेख भी मिलता है जैसा कि भगवज्जिनसेन के शिष्य गुणभद्र ने निम्नश्लोक द्वारा उत्तरपुराण की प्रशस्ति में दी है, पर आजकल सर्वथा अनुपलब्ध है ।

सिद्धभूपद्धतिर्यस्य टीका संवीक्ष्य भिक्षुभिः ।
टीक्यते हेलायान्येषां विषमापि पदे पदे ॥

स्व. पं. बालचन्द्र शास्त्री ने एक पंजिका टीका 'सतकम्म पंजिया' (सत्कर्म पंजिका) का भी उल्लेख किया है पर इसके कर्ता कौन हैं, इसका पता नहीं चलता है। यह कन्नड़ भाषा में है, त्रुटित और स्खलित है। इनका विस्तृत विवरण षट्खण्डागम की 15वीं पुस्तक में परिशिष्ट रूप से प्रकाशित किया गया है। इस पंजिका 'सत्कर्म' पर पंजिकारूप में महान अर्थ से परिपूर्ण विवरण लिखने की प्रतिज्ञा पंजिकाकार ने की थी जो कोई दक्षिण के ही विद्वान प्रतीत होते हैं। हम पहले लिख आये हैं कि आचार्य वीरसेन स्वामी के समक्ष अपार श्रुतभण्डार उपलब्ध था जिसका उन्होंने गंभीरतापूर्वक अध्ययन, मनन, चिन्तन और विश्लेषण किया था जिसका प्रमाण अपनी दोनों टीकाओं में अपने से पूर्ववर्ती तथा अपने समकालीन ग्रंथों का तथा उनके कर्ता-

आचार्यों का कहीं-कहीं नामोल्लेख करके दिया है तो कहीं 'उक्तंच' या 'वुत्तं च' या 'भणियं च (भणितं च)' लिखकर उल्लेख किया है।

इस तरह पंचस्तूपान्वयी भट्टारक आचार्य वीरसेन स्वामी की आचार्य पुष्पदन्त और भूतबलिकृत 'षट्खण्डागम' पर 'धवला टीका' जो अपने आप में एक स्वतन्त्र, मौलिक ग्रन्थस्वरूप है, जैन वाङ्मय की ही नहीं अपितु भारतीय वाङ्मय की एक अनूठी और अद्भुत मौलिक कृति है जिसमें आचार्य वीरसेन के अगाध पाण्डित्य, विलक्षण प्रतिभा एवं विस्तृत बहुश्रुतज्ञता का आभास मिलता है।

अन्त में आचार्य वीरसेनस्वामी को श्रद्धा-सुमन समर्पित करते हुए अपना लेख समाप्त करता हूँ।

श्रुति कुटीर,
68, विश्वास नगर
शाहदरा, दिल्ली-110032

पुण्यार्थस्यभिधायकः ....

मङ्गशब्दोऽयमुद्दिष्टः पुण्यार्थस्याभिधायकः ।
तल्लातीत्युच्यते सद्भिर्मङ्गलं मङ्लार्थिभिः ॥ 16 ॥

पापं मलमिति प्रोक्तमुपचारसमाश्रयात् ।
तद्धि गालयतीत्युक्तं मङ्गलं पण्डितैर्जनैः ॥ 17 ॥

– षट्खण्डागम (पु. 1, पृ. 35)

– यह मंग शब्द पुण्यरूप अर्थ का प्रतिपादन करनेवाला माना गया है। उस पुण्य को जो लाता है उसे मङ्गल के इच्छुक सत्पुरुष मंगल कहते हैं ॥ 16 ॥

– उपचार से पाप को भी मल कहा है। इसलिए जो उसका गालन अर्थात् नाश करता है उसे भी पण्डितजन मंगल कहते हैं ॥ 17 ॥

आचार्य वीरसेन और उनकी कालजयी टीका 'धवला'

- डॉ. श्रीरंजन सूरिदेव

•

प्राचीन ब्राह्मण और श्रमण-काल में आचार्यों द्वारा आकर-ग्रंथों पर जो टीकाएँ लिखी जाती थीं उनमें मूल लेखकों की मूल दृष्टि से भिन्न अपनी मूल दृष्टि टीकाकारों द्वारा प्रस्तुत की जाती थी, इसलिए उनकी टीकाएँ स्वतन्त्र (टीका) ग्रन्थ बन जाती थीं। इस दृष्टि से टीकाकार भी एक ग्रन्थकार के रूप में ही मानार्ह होते थे। इसी प्रकार आचार्य वीरसेन (9वीं शती, ईसवी-सन् 816) द्वारा लिखी गई 'धवला' टीका ने एक स्वतन्त्र ग्रन्थ की इयत्ता आयत्त कर ली है और वीरसेनाचार्य एक ग्रन्थकार आचार्य के रूप में शाश्वत्प्रतिष्ठ हो गये हैं।

दिगम्बर आम्नाय के कर्म सिद्धान्त-विषयक ग्रन्थों में षट्खण्डागम कूटस्थ है। प्राकृत-निबद्ध इस ग्रन्थ का आविर्भाव मूल द्वादशांग श्रुतस्कन्ध से हुआ है। नाम की अन्वर्थता के अनुकूल इस जैनागम के छह खण्ड हैं – 1. जीवट्ठाण, 2. खुद्दाबन्ध, 3. बन्धस्वामित्व-विचय, 4. वेदना, 5. वर्गणा और 6. महाबन्ध। इनमें मूल ग्रन्थ के पाँच खण्ड प्राकृत भाषा में सूत्रनिबद्ध हैं। आचार्य जिनेन्द्र वर्णी द्वारा सम्पादित 'जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश' के अनुसार – प्रथम खण्ड के सूत्र आचार्य पुष्पदन्त (ईसवी सन् की प्रथम-द्वितीय शती) द्वारा प्रणीत हैं। शेष चार खण्डों के सूत्र आचार्य पुष्पदन्त के समकालीन आचार्य भूतबलि द्वारा रचित हैं। इस आगम ग्रन्थ का छठा खण्ड सविस्तररूप में आचार्य भूतबलि ने ही रचा है। इस ग्रन्थ के प्रथम पाँच खण्डों पर तो अनेक टीकाएँ उपलब्ध हैं, परन्तु छठे खण्ड पर एकमात्र आचार्य वीरसेन की ही टीका उपलब्ध

होती है। यह बात और है कि इनकी छठे खण्ड की टीका विशद न होकर संक्षिप्त व्याख्या की प्रस्ताविका है।

षट्खण्डागम की पहली टीका तीर्थंकरोपम आचार्य (ईसवी सन् की पहली-दूसरी शती) कुन्दकुन्दस्वामी द्वारा इसके प्रथम तीन खण्डों पर रची गई जो 'परिकर्म' नाम से आख्यात हुई। दूसरी टीका आचार्य कुन्दकुन्द के परवर्ती आचार्य समन्तभद्र (ईसवी सन् की दूसरी शती) द्वारा इसके प्रथम पाँच खण्डों पर रची गई। तत्पश्चात् इसकी तीसरी टीका आचार्य शामकुण्ड (ईसवी तृतीय शती) द्वारा इसके प्रथम पाँच खण्डों पर रची गई। ग्रन्थ की चौथी और अन्तिम टीका आचार्य वीरसेन द्वारा लिखी गई। कहना न होगा कि जैन वाङ्मय में षट्खण्डागम पर लिखी गई 'धवला' टीका अपने-आप में महतोमहीयसी है।

आचार्य वीरसेन मूल ग्रन्थ न लिखकर केवल 'धवला' टीका के प्रणयन के प्रति ही समर्पित रहे और टीका-जगत् में अपने वैदूष्य की क्रोशशिला के संस्थापक टीकाकार के रूप में इतिहास-प्रतिष्ठ हुए। महान टीकाकार आचार्य वीरसेन की दो ही टीका-रचनाएँ उपलब्ध हैं – 'धवला' और 'जयधवला'। 'जयधवला' टीका अपूर्ण है। इसके बारे में उक्त 'जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश' से सूचना मिलती है कि आचार्य यतिवृषभकृत (ईसवी सन् की छठी-सातवीं शती) षट्खण्डागम के अन्तर्गत 'कषायपाहुड' ग्रन्थ की साठ हजार श्लोकप्रमाण विस्तृत टीका मिलती है जिसमें बीस हजार श्लोकप्रमाण भाग तो आचार्य वीरसेन का है और शेष चालीस हजार श्लोकप्रमाण भाग स्वामी वीरसेन के विद्वान् शिष्य आचार्य जिनसेन (ईसवी सन् की आठवीं-नवीं शती) द्वारा प्रणीत है। यह अपूर्णता आचार्य वीरसेन के असमय कालगत होने के कारण ही रह गई।

आचार्य वीरसेन की धवला टीका बहत्तर हजार श्लोकप्रमाण है जिसे इन्होंने प्राकृत और संस्कृत मिश्रित भाषा में मणिप्रवाल-शैली में गुम्फित किया है। एक व्यक्ति ने अपने जीवन में बानवे हजार श्लोकप्रमाण रचनाएँ कीं, यह अपने-आपमें आश्चर्य का विषय है। इन दोनों टीकाओं से आचार्य वीरसेन की बहुज्ञता और विशेषज्ञता एक साथ प्रकट होती है, साथ ही इनकी सैद्धान्तिक विषयों की विस्मयकारी सूक्ष्मेक्षिका भी संकेतित होती है।

आचार्य नेमिचन्द्र शास्त्री के प्रसिद्ध ऐतिहासिक ग्रन्थ 'तीर्थंकर महावीर और उनकी आचार्य-परम्परा' के आचार्य वीरसेन के प्रकरण में उल्लेख मिलता है कि बप्पदेव की टीका को देखकर वीरसेनाचार्य को धवला टीका लिखने की प्रेरणा प्राप्त हुई। पुण्यश्लोक शास्त्रीजी ने यह उल्लेख आचार्य इन्द्रनन्दी के 'श्रुतावतार' के आधार पर किया है। इस सन्दर्भ में 'जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश' से विशिष्ट सूचना मिलती है कि बप्पदेव ही 'बापदेव' के नाम से जाने जाते थे। उन्होंने 'उत्कलिका' ग्राम के समीपस्थ 'मणवल्ली' ग्राम में आचार्य शुभनन्दी तथा आचार्य रविनन्दी से ज्ञानोपदेश प्राप्त करके षट्खण्डागम के प्रथम पाँच खण्डों पर 'व्याख्याप्रज्ञप्ति' नाम की टीका तथा तदन्तर्गत छठे खण्ड के 'कषायपाहुड' की 'उच्चारणा' नाम की एक संक्षिप्त टीका लिखी। तत्पश्चात् चित्रकूट ग्राम में आचार्य वीरसेन ने बापदेव स्वामी के निकट सिद्धान्त का अभ्यास करके षट्खण्डागम के प्रथम पाँच खण्डों पर 'धवला' नाम की टीका रची। आचार्य वीरसेन के अनुसार बापदेव का समय ईसवी सन् की आठवीं शती है।

एक टीका के बाद लिखी जानेवाली दूसरी टीका अपनी पूर्ववर्त्ती टीका की कमियों को पूरा करने का प्रयास करती है। बापदेव की टीका के अध्ययन के बाद आचार्य वीरसेन ने अनुभव किया कि बापदेव की टीका में सिद्धान्त के अनेक पक्षों का निर्वचन नहीं हो पाया है और अगर हुआ भी है तो उसमें समग्रता नहीं आ पाई है। इन्होंने यह भी अनुभव किया कि अनेक स्थलों पर सिद्धान्त को स्पष्ट करने के निमित्त पुनर्व्याख्या अपेक्षित रह गई है, इसलिए इस महाग्रन्थ की एक नई विवृत्ति लिखना आवश्यक है। फलतः इन्होंने 'धवला' और 'जयधवला' नाम की टीकाएँ लिखीं।

आचार्य वीरसेन की धवला और जयधवला टीकाएँ 'उपनिबन्धन' कही जा सकती हैं। आचार्य वीरसेन में कवि, दार्शनिक और सैद्धान्तिक - इन तीन व्यक्तित्वों का समप्रतिभ समाहार हुआ है। इनके शास्त्रज्ञ शिष्य आचार्य जिनसेन ने इन्हें उपनिबन्धनकर्त्ता कहा है। उपनिबन्धन में विषय का प्रस्तुतीकरण परम्परागत विचारों के अनुमोदन के साथ किया जाता है। साथ ही, प्रस्तूयमान विषय या वस्तु पर उसकी प्रकृति, स्वरूप, गुण-दोष आदि की दृष्टि से तर्कपूर्ण विवेचना या समालोचना की जाती है। आचार्य नेमिचन्द्र शास्त्री ने कहा है कि आचार्य वीरसेन की टीका को इसलिए 'उपनिबन्ध' की संज्ञा दी गई है कि उसमें विचारों की प्रगल्भता, अनुभव की परिपक्वता, सांस्कृतिक उपकरणों की प्रचुरता तथा विषय की प्रौढ़ता है (द्रष्टव्य – 'तीर्थंकर महावीर और उनकी आचार्य-परम्परा, पृ. 325)। अवश्य ही, 'धवला' या 'जयधवला' टीका पर सांस्कृतिक तत्त्वों के अध्ययन की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण शोधकार्य हो सकता है।

आचार्य वीरसेन की धवला टीका में निमित्त, ज्योतिष एवं न्यायशास्त्रीय सूक्ष्म तत्त्वों के सांस्कृतिक विवेचन के साथ ही तिर्यंच और मनुष्य के द्वारा सम्यक्त्व, संयम और संयमा-संयम की प्राप्ति की विधि का विशद उल्लेख हुआ है। इस सन्दर्भ में एक मूल सन्दर्भ का हम आस्वाद लें –

"एत्थ वे उवदेसा-तं जहा - तिरिक्खेसु वेमास मुहुत्त-पुधस्सुवरि सम्मत्तं संजमं संजमासंजमं च जीवो पडिवज्जदि। मणुस्सेसु गब्भादि-अट्ठ-वस्सेसु अंतो-मुहुत्तब्भहिएसु सम्मत्तं संजमं संजमासंजमं च पडिवज्जदि त्ति।" (धवला टीका, पुस्तक 5, पृ. 32)

जयधवला टीका की प्रशस्ति (पद्य-सं. 39) से इस बात का संकेत मिलता है कि षट्खण्डागम की विभिन्न टीकाओं में आचार्य वीरसेन की धवला या जयधवला टीका ही यथार्थ है। शेष टीकाएँ पद्धति या पंजिका-मात्र हैं। मूल पंक्ति इस प्रकार है –

'टीका श्रीवीरसेनीया शेषाः पद्धति-पञ्जिकाः।'

आचार्य नेमिचन्द्र शास्त्री (द्रष्टव्य – तत्रैव, पृ. 326-27) ने धवला टीका के सन्दर्भ में विशद विवेचन किया है, जिसका सार यह है कि आचार्य वीरसेन ने अपनी दोनों टीकाओं (धवला और जयधवला) में सैद्धान्तिक तत्त्वों का भरपूर समावेश किया है। समस्त श्रुतज्ञान की जैसी सांगोपांग व्याख्या आचार्य वीरसेन ने की है वैसी व्याख्या अन्यत्र दुर्लभ है। वीरसेन स्वामी ने गुरु-परम्परा से प्राप्त महाकर्मप्रकृतिप्राभृत तथा कषायप्राभृत को इन दोनों टीकाओं में यथावत् परिनिबद्ध किया है। आगमिक परिभाषा के अनुकूल ये दोनों टीकाएँ दृष्टिवाद के अंगभूत उक्त दोनों प्राभृतों का

प्रतिनिधित्व करती हैं। अतएव ये दोनों स्वतन्त्र ग्रन्थ की अस्मिता से अभिमण्डित हैं। आचार्य वीरसेन की विकासमूलक व्याख्या के कारण ही अधुना षट्खण्डागम-सिद्धान्त 'धवलासिद्धान्त' के नाम से और पेज्जदोसपाहुड 'जयधवलासिद्धान्त' के नाम से प्रख्यात हैं।

आचार्य वीरसेन ने परम्परानुसार विलक्षित विषय का प्रतिपादन करके अपनी टीका की प्रामाणिकता की रक्षा पर विशेष ध्यान दिया है। इन्हें यदि किसी अपने पूर्ववर्त्ती आचार्य का अभिप्राय सूत्रविरुद्ध या परम्पराविरुद्ध प्रतीत हुआ है तो इन्होंने उसे अग्राह्य घोषित कर दिया है। किन्तु स्वयं इन्हें आचार्य-परम्परागत उपदेश के अभाव में कुछ कहना पड़ा है तो उसे इन्होंने गुरु से प्राप्त उपदेश के आधार पर अपनी विवेचना का विषय बताया है। यद्यपि इन्होंने ग्राह्याग्राह्य के सन्दर्भ में अपनी विरोध-समन्वयकारी दृष्टि का परिचय दिया है। इनके वैदूष्य का परिज्ञान इस बात से भी होता है कि इन्होंने अपनी टीका में प्राचीन आगम के उपलब्ध साहित्य का पूरा उपयोग किया है।

आचार्य नेमिचन्द्र शास्त्री के अनुसार – धवला और जयधवला टीकाओं में आचार्य वीरसेन ने प्रसादगुण के संयोजन के साथ-साथ समाहार-शक्ति के विनियोग का भी विलक्षण परिचय दिया है। इनकी अतिशय सरल तर्क या न्याय शैली मन को मुग्ध कर देती है। विवेच्य विषय के उपस्थापन में इन्होंने पद और वाक्यों का अर्थ तो स्पष्ट किया ही है, तद्विषयक सूत्रों का स्पष्टीकरण भी इस पद्धति से किया है कि सूत्रों के सामान्य और गूढ़ दोनों प्रकार के अर्थों को अवगत करने में बुद्धि को व्यायाम नहीं करना पड़ता। शंका-समाधानपूर्वक विषय-निरूपण की निराडम्बर शैली तो ततोऽधिक सरल, स्वच्छ और हृदयावर्जक है। प्रसादगुणभूयिष्ठ विषय-प्रतिपादन की शैलीगत स्वच्छता के कारण ही इस टीका का 'धवला' नाम सार्थक है।

शंका-समाधान द्वारा विषय का समन्वयन और संक्षेपणपूर्वक अपने वक्तव्य में विविध भंगों का संयोजन ही समाहार-शक्ति की विशेषता है। पूर्वाचार्यों द्वारा प्ररूपित गाथाओं और वाक्यों का 'उक्तञ्च' कहकर आचार्य वीरसेन ने अपने विवेच्य विषय के साथ इस प्रकार समाहार किया है जिस प्रकार पायस में घी मिलकर एकमेक हो गया है। 'मंगलाचरण' की विवेचना के क्रम में अपनाई गई इस समाहार-शैली का एक उदाहरण प्रस्तुत है –

''तद्व्यतिरिक्तं द्विविधं कर्मनोकर्ममङ्गलभेदात्। तत्र कर्ममङ्गलं दर्शन-विशुद्धयादि-षोडशधा-प्रविभक्त-तीर्थंकर-नामकर्म-कारणौर्जीव-प्रदेश-निबद्ध-तीर्थंकर-नामकर्म-माङ्गल्य-निबन्धनत्वान्मङ्गलम्। यत्तन्नोकर्ममङ्गलं तद् द्विविधम्, लौकिकं लोकोत्तरमिति। तत्र लौकिकं त्रिविधम्, सचित्तमचित्तं मिश्रमिति। तत्राचित्तमङ्गलम् -

सिद्धत्थ-पुण्णकुंभो वंदणमाला य मंगलं छत्तं।
सेदो वण्णो आदंसणो य कण्णा य जच्चस्सो॥
सचित्तमङ्गलम्। मिश्रमङ्गल सालङ्कारकन्यादिः।''

(षट्खण्डागम, धवला, पु. 1, पृ. 92-93)

आचार्य वीरसेन ने स्वीकृत विषय को समझाने के लिए अपनी टीका में प्राध्यापन-शैली भी अपनाई है। जिस प्रकार शिक्षक छात्र को विषय का ज्ञान कराते समय बहुकोणीय तथ्यों और उदाहरणों या दृष्टान्तों का आश्रय लेता है तथा अपने अभिमत की सम्पुष्टि के लिए आप्तपुरुषों या शलाकापुरुषों के मतों को उद्धृत करता है, ठीक उसी प्रकार की शैली धवला टीका की है। कठिन शब्दों या वाक्यों के निर्वचन एक कुशल प्राध्यापक की शैली में निबद्ध किये गये हैं। इस शैली को आचार्य नेमिचन्द्र शास्त्री ने 'पाठक-शैली' कहा है।

जैसा पहले कहा जा चुका है, प्राचीन टीकाएँ स्वतन्त्र ग्रन्थकल्प की प्रतिष्ठा आयत्त करती हैं। आचार्य वीरसेन की 'धवला' एक टीका होने पर भी स्वतन्त्र ग्रन्थ है। इसलिए आचार्य वीरसेन भाष्यकार या विवृतिकार की तरह मूल ग्रन्थकार द्वारा निरूपित विषयों या उसकी विवेचना की पद्धतियों से अनुबन्धित नहीं हैं, वरन् इन्होंने स्वतन्त्र ग्रन्थकार की तरह विषय की अभिव्यंजना अपने ढंग से निश्चित शैली में प्रस्तुत की है, साथ ही ग्रन्थकार से भिन्न अभिनव और मौलिक तथ्यों की भी उपस्थापना की है। इस शैली में सर्जनात्मक प्रतिभा के समावेश के कारण ही आचार्य नेमिचन्द्र शास्त्री ने इसे 'सर्जक शैली' कहा है।

जिस प्रकार 'महाभारत' एक लाख श्लोकप्रमाण में निबद्ध हुआ है, उसीप्रकार आचार्य वीरसेन ने लगभग उतने ही (बानवे हजार) श्लोकप्रमाण में अपनी धवला का उपन्यास किया है। महाभारत के बारे में प्रसिद्धि है – 'यदिहास्ति तदन्यत्र यन्नेहास्ति न तत्क्वचित्' अर्थात्, जो महाभारत में है वही अन्यत्र भी है, जो इसमें नहीं है वह कहीं नहीं है। इसीप्रकार जैन वाङ्मय के समस्त अनुयोग कालजयी टीका धवला में अन्तर्निहित हैं। सच पूछिए तो आचार्य वीरसेन जैनशास्त्र के व्यासदेव हैं।

पी. एन. सिन्हा कॉलोनी
भिखना पहाड़ी
पटना-800006

मंगल के प्रकार

कतिविधं मङ्गलम् ? मङ्गलसामान्यात्तदेकविधम्, मुख्यामुख्यभेदतो द्विविधम्, सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रभेदात्त्रिविधं मङ्गलम्, धर्मसिद्धसाध्वर्हद्भेदाच्चातुर्विधम्, ज्ञानदर्शनत्रिगुप्तिभेदात् पञ्चविधम्।

× × ×

अथवा मंगलम्हि छ अहियाराहे दंडा वत्तव्वा भवंति। तं जहा, मंगलं मंगलकत्ता मंगलकरणीयं मंगलोवायो मंगलविहाणं मंगलफलमिदि। एदेसिं छण्हं पि अत्थो उच्चदे। मंगलत्थो पुव्वुत्तो। मंगलकत्ता चोद्दस-विज्जा-ट्ठाण-पारओ आइरियो। मंगल-करणीयं भव्व-जणो। मंगलोवायो ति-रयण-साहणाणि। मंगलविहाणं एय-विहादि पुव्वुत्तं। मंगल-फलं अब्भुदय-णिस्सेयस-सुहाइ।

षट्खंडागम (पु. 1, पृ. 40)

– मंगल कितने प्रकार का है ?

मंगल सामान्य की अपेक्षा एक प्रकार का है। मुख्य और गौण के भेद से दो प्रकार का है। सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र के भेद से तीन प्रकार का है। धर्म, सिद्ध, साधु और अर्हन्त के भेद से चार प्रकार का है। ज्ञान, दर्शन और तीन गुप्ति के भेद से पाँच प्रकार का है।

× × ×

– अथवा, मंगल के विषय में छह अधिकारों द्वारा दंडकों का कथन करना चाहिए। वे इस प्रकार हैं – 1. मंगल, 2. मंगलकर्ता, 3. मंगलकरणीय, 4. मंगल-उपाय, 5. मंगल-भेद और 6. मंगलफल। अब इन छः अधिकारों का अर्थ कहते हैं। मंगल का अर्थ तो पहले कहा जा चुका है। चौदह विद्यास्थानों के पारगामी आचार्य-परमेष्ठी मंगलकर्ता हैं। भव्यजन मंगल करने योग्य हैं। रत्नत्रय की साधक सामग्री मंगल का उपाय है। मंगल के भेद भी पहले बताये गये हैं। अभ्युदय और मोक्ष-सुख मंगल का फल है।

श्री वीरसेनाचार्य
(आधुनिक न्यायशास्त्र के संदर्भ में)

– प्रोफेसर एल.सी. जैन
– कु. प्रभा जैन

•

नवीं सदी में हुए विश्वविख्यात *'धवला'* एवं *'जयधवला'* टीकाओं के रचनाकार श्री वीरसेनाचार्य ने दिगम्बर जैन आगम ग्रंथों, *षट्खण्डागम* एवं *कषाय प्राभृत* की गूढ़तम सामग्री को अभूतपूर्व रूप में प्रस्तुत कर अप्रतिम लोक-कल्याण किया। उनकी उक्त टीकाओं में अंक-गणितीय संदृष्टियां प्राप्त हैं, गणितीय न्याय शब्दों द्वारा अभिव्यक्त है। परन्तु शेष अर्थसंदृष्टिमय कार्य श्री नेमिचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्ती कृत (लगभग 10वीं सदी) गोम्मटसार, लब्धिसार, क्षपणसार की जीवतत्त्व प्रदीपिका, संस्कृत टीका एवं सम्यक्ज्ञान चंद्रिका टीका के अर्थसंदृष्टि अधिकारों में उपलब्ध है।

वस्तुत: दिगम्बर जैन परम्परा के इन आगम ग्रंथों में कर्म सिद्धान्त को गणित द्वारा साधा गया है, और कर्म सिद्धान्त के गहनतम परिप्रेक्ष्यों को उद्घाटित करने हेतु न केवल गणितीय न्याय अपितु गणितीय संदृष्टियों का सुन्दरी लिपि की सहायता से गम्भीरतम शोध कार्य किया गया है जिसमें विश्लेषण, संश्लेषण, राशि-सिद्धान्त एवं परमाणु-सिद्धान्त आदि का प्रयोग किया गया है।

राशियों के वाक्यरूप कथन, ज्ञप्ति एवं उनके बीच स्थापित सम्बन्ध, उनके स्वरूपादि की चर्चारूप व्याख्यान एवं उपाख्यान श्री वीरसेनाचार्य की एक अद्‌भुत प्रतिभासम्पन्न उपलब्धि है जो शताब्दियों तक पठन-पाठन एवं शोध तथा निर्णयों की भूमिकाएं अदा करती रहेंगी। किसी भी राशि, जैसे केवलज्ञान राशि, की परिभाषा, उसकी तद्रूप स्थापना और उसका ज्ञप्तियों में उपयोग जो अबाधित हो, न्याय-संगत हो, अखण्डित हो, मिथ्याभास से रहित हो, स्वबाधित न हो, परस्पर पूर्वापर विरोध से रहित हो – अपने आप में एक अतुलनीय प्रतिभा का द्योतक है।

आधुनिक विज्ञान में सापेक्षता का सिद्धान्त (Theory of relativity), परमाणु-शक्ति-पुंज का सिद्धान्त (Theory of quanta) अप्रतिम ऊंचाइयों और गहराइयों तक पहुंच चुके हैं, जो बीसवीं सदी की देन हैं। इसी प्रकार आज की बीसवीं सदी की अद्‌भुत देन राशि-सिद्धान्त (Theory of sets) उतनी ही ऊंचाइयों को प्राप्त कर चुकी है। इसके प्रणेता जार्ज केण्टर (1845-1918) विश्वविख्यात हुए हैं जिनके द्वारा परिभाषित राशि को स्वबाधित करारकर बुरेली फोर्ट एवं बरट्रेण्ड रसेल (नोबेल पुरस्कार सम्मानित एवं लोक शान्ति प्रतिष्ठान स्थापक) ने कैण्टर के राशि-सिद्धान्त को एक बार पूर्णरूप से धराशायी कर दिया था। किन्तु आज वही राशि-सिद्धान्त प्रत्येक शाला एवं विश्वविद्यालय के पाठ्यक्रम में सर्वप्रथम स्थान पाये हुए है।

ऐसा भी क्या रहस्य है इस राशि-सिद्धान्त में जो विगत एक शती में कला-विज्ञान के प्रत्येक क्षेत्र में अपनी अनिवार्यता सिद्ध कर चुका है। व्यक्तिगत चर्चा सरल है, पर उसके समूहों की चर्चा उतनी ही गम्भीर है। व्यक्ति विशेष के गुणों का व्याख्यान सरल है किन्तु अनेक व्यक्तियों के बीच जो सम्बन्ध स्थापित होते हैं उनके संख्येय, असंख्येय एवं अनन्त परिप्रेक्ष्य उद्‌घाटित करना उतना ही कठिन है, और सर्वाधिक कठिन है उनके इन सम्बन्धों को निर्णीत कर उन्हें सत्यरूप प्रमाणित करना – आगम से अथवा प्रयोगों से जो प्रत्यक्ष एवं परोक्ष अनुमानों पर आधारित हों।

स्पष्ट है कि न्याय, छन्द, व्याकरण, आयुर्वेद, गणित, ज्योतिष आदि विद्याओं में सर्वगुणसम्पन्न श्री वीरसेनाचार्य की सुभाग्य रेखाओं में धवलाकार और जयधवलाकार होने का श्रेय था। उन्होंने राशि-सिद्धान्त के प्रायः सभी कर्म-परिप्रेक्ष्यों को समुद्‌घाटित किया जो शब्दों और वाक्यों की प्राकृत भाषा एवं कनाड़ी लिपि में निबद्ध हुआ। किन्तु अभी भी न्यायपूर्ण अभिप्राययुक्त कर्म-सिद्धान्त के अनेक परिप्रेक्ष्य गोम्मटसारादि की अर्थ-संदृष्टि टीकाओं में छिपे हुए गर्भित हैं जिन पर अगली पीढ़ी को कठोरतम परिश्रम कर उद्‌घाटित करना शेष है।

जैसे ब्राह्मी आदि लिपि भाषा को संकेतमय बनाकर ध्वनियों में नये परिप्रेक्ष्य उत्पन्न करती है, उसी प्रकार सुन्दरी आदि लिपि गणित को संकेतमय बनाकर अदृश्य एवं अनसुनी काल्पनिकतम ध्वनियों में नये परिप्रेक्ष्य उत्पन्न करती है। नये परिप्रेक्ष्य मिलते ही हम अज्ञान की परतंत्रता से ज्ञान के सुन्दरतम स्वातंत्र्य में प्रवेश करते हैं। एक बाढ़-सी आती है उन परिप्रेक्ष्यों की जिनके आलम्बन से हम उन परिणामों, पारिणामिक भावों की धाराओं में तन्मय हो जाते हैं जो मिथ्यात्व के तिमिर को छिन्न-भिन्न करती अखण्ड निर्मलता में प्रवेश करती, करा देती, कराती चली जाती हैं। आज का न्याय भी सुन्दरी जैसी लिपि के संकेतों में निबद्ध हुआ और

अनेक अर्थों को नये रूप में उद्घाटित करता चला गया। वीरसेनाचार्य का गणितीय न्याय कनाड़ी लिपि में, भाषा में अनुबद्ध होता हुआ, आज के न्यायशास्त्रियों, वादियों के लिए एक महान् स्रोतरूप में उपस्थित हुआ। किन्तु कन्नड़, कर्णाटक केशववर्णी आदिकृत अर्थसंदृष्टिमय वृत्तियाँ गणित-मय पठन-पाठन की वस्तु न बन पाईं और उनके गणितीय-न्याय अभिप्रेत परिप्रेक्ष्य अभी भी अप्रकाशित, अनुद्घाटित रहे आये।

इस संक्षिप्त लेख में हम मात्र एक ही 'केवलज्ञान राशि' सम्बन्धी गणितीय-न्याय का संदृष्टिमय परिप्रेक्ष्य प्रस्तुत कर सकेंगे। वीरसेनाचार्य द्वारा संख्येय, असंख्येय, अनन्त कर्म संबंधी राशियों के परिप्रेक्ष्य उपस्थित किये गये हैं जो हमने अपने विगत कुछ लेखों में प्रस्तुत किये हैं।[1]

प्रश्न है कि क्या किसी राशि को परिभाषित कर उसकी परिसीमाओं में अनन्तात्मक राशि को उद्बोधित किया जा सकता है ताकि वह सत्य, अस्तित्वमय एवं स्वबाधा से रहित हो? बरट्रेण्ड रसेल ने केंटर की राशि की परिभाषा लेकर जो तर्क छेड़ा और जिसने केन्टर के पचास वर्षों के प्रयास से बने राशि-सिद्धान्त को मानो क्षणमात्र में धराशायी कर दिया उसे हम एक दृष्टान्त द्वारा बतलाते हैं – 'किसी गांव में एक नाई रहता है। वह उन सभी की हजामत बनाता है जो अपनी हजामत स्वयं नहीं बनाते। प्रश्न है कि नाई की हजामत कौन बनाता है?'

इसी तर्क को स्पष्ट करने के लिए हम संकेतों के द्वारा तर्क निर्मित कर सिद्ध करेंगे कि यह स्वबाधित है। कैण्टर ने जितने साध्य राशि-सिद्धान्त सम्बन्धी सिद्ध कर बतलाये थे वे तीन स्वयंसिद्धों (axioms) पर आधारित थे –

1. **राशियों हेतु विस्तारात्मक योग्यता का स्वयंसिद्ध** – यह निश्चयपूर्वक बतलाता है कि कोई भी दो राशियाँ सर्व-सम होती हैं यदि उनमें वही सदस्य हों।
2. **अमूर्त्त कल्पना का स्वयंसिद्ध** (axioms of abstraction) – इसका कथन है कि किसी दिये हुए गुणधर्म (Property) के लिए एक ऐसी राशि का अस्तित्व रहता है जिसके सदस्य (members) ठीक वे ही वस्तुएं (entities) होती हैं जिनमें वही गुणधर्म होता है।
3. **विकल्प संबंधी स्वयंसिद्ध** (axiom of choice) – समतुल्य रूप में यह सुक्रमबद्धी साध्य (Well-ordering theorem) है जिसका कथन है कि प्रत्येक राशि-वर्ग इस प्रकार क्रमबद्ध किया जा सकता है कि उसका प्रत्येक अरिक्त उपराशिवर्ग का एक सदस्य प्रथम अवश्य होता है।

इनमें से उलझन उत्पन्न करनेवाला स्वयंसिद्ध क्रमांक 2 है। 1901 में बर्ट्रेण्ड रसेल ने पाया कि इस स्वयंसिद्ध द्वारा पूर्वापर विरोध (contradiction) निकाला जा सकता है। वह इस प्रकार कि उन सभी वस्तुओं की राशि पर विचार किया जाये जिनमें ऐसा गुणधर्म हो कि वे परस्पर में एक-दूसरे के सदस्य न हों। इसकी संदृष्टिमय रचना के लिए हमें राशि-सदस्यता संबंधी संदृष्टि 'ϵ' जो युग्मक निरूपक है, लेना होता है। इस प्रकार सूत्र '$x \epsilon y$' का अर्थ 'x सदस्य है y का', 'y में x है', होता है। इस प्रकार यदि A प्रथम पांच अयुग्म धनात्मक पूर्णांकों की राशि हो, तो वाक्य '$7 \epsilon A$' सत्य होता है और '$6 \epsilon A$' असत्य होता है। आधुनिक न्याय संबंधी संकेत

निम्नलिखित हैं –

संकेत	अर्थ
– P	यह मामला नहीं है कि P
P & Q	P और Q
P V Q	P अथवा Q
P → Q	यदि P तो Q
P ↔ Q	P यदि और केवल यदि Q
(∀ v) P	प्रत्येक v के लिए, P
(∃ v) P	किसी v के लिए, P
(E ! v) P	ठीक एक v होता है ताकि P

इसकी सहायता से यह वाक्य 'प्रत्येक x के लिए एक y होता है इस प्रकार कि x < y' निम्नलिखित रूप में संदृष्टिमय बनता है –

(∀x) (∃y) (x < y)

अब कैण्टर के दूसरे स्वयंसिद्ध का संक्षिप्त सूत्रीकरण यह है –

(∃y) (∀x) (x∈y ↔ϕ (x), ... (1)

जहाँ यह समझ है कि ϕ (x) एक ऐसा सूत्र है जिसमें चर (variable) 'y' स्वतंत्र नहीं है। रसेल के विरोधाभास (Paradox) को बनाने के लिए हम चाहते हैं कि ϕ (x) यह कथन करे कि x स्वयं का सदस्य नहीं है। इसका यथार्थ सूत्र स्पष्ट रूप से यह है –

– (x ∈ x)

तब हमें अमूर्त कल्पना के स्वयंसिद्ध का एक उदाहरण इस प्रकार प्राप्त होता है –

(∃y) (∀x) (x∈y ↔ – [x ∈ x]) ..... (2)

उपर्युक्त वाक्य (2) में x=y लेने पर यह अनुमान प्राप्त होता है कि

y ∈ y ↔ – (y ∈ y), ... (3)

जो कि पूर्वापर विरोध

y ∈ y & – (y ∈ y) ..... (4)

से न्यायरूप से तुल्य है।

उपर्युक्त ऐतिहासिक व्युत्पत्ति (derivation) के दूरगामी परिणाम निकले, जबकि राशि-सिद्धान्त को स्वयं-सिद्धात्मक आधार दिये गये। उपर्युक्त में (1) वाक्य स्पष्टरूप से सिद्ध करता

है वह ऐसा स्वयंसिद्ध है, गुणधर्म संबंधी, जिसमें परिसीमा का उल्लंघन हो गया है। उसमें ही अनन्त स्वयंसिद्धों का समावेश हो गया है, न कि वह केवल एक ही स्वयंसिद्ध (axiom) है।

इसके प्रकाश में हम जब चौदह धाराओं में आनेवाले प्रथम पद और अन्तिम पद का निर्धारण करते हैं तो हमें उन सभी प्रक्रियाओं को न्याय की कसौटी पर रखना होता है, जिसमें निम्नलिखित पर विचार करना आवश्यक हो जाता है[2] -

1. क्या अनन्त राशि से बड़ी अनन्त राशि का अस्तित्व है और क्या उसे सिद्ध किया जा सकता है, तथा क्या उसे निर्मित किया जा सकता है?
2. किसी भी गणात्मक (cardinal) राशि को क्या सुक्रमबद्ध किया जा सकता है? राशि विशेषत: जब अनन्तात्मक हो।
3. क्या गणना संक्रिया से असंख्येय एवं अनन्त राशि उत्पन्न की जा सकती है? धवलादि में शलाका संगणन की कुछ विशेष प्रक्रियाएं बतलाई गयी हैं, उनका न्याय शास्त्र में क्या महत्त्व है ?
4. न्यायशास्त्र में अनन्त राशि का अर्द्धादि किस प्रकार प्रमाणित किया जा सकता है? यह धाराओं के दिग्दर्शन के लिए अनिवार्य है ?
5. जैन न्यायशास्त्र की अनेक जटिल विधियां आधुनिक न्यायशास्त्र की विधियों से कहां तक तुलना की वस्तुएं हैं ?

अब हम देखें कि श्री वीरसेनाचार्य द्वारा निबद्ध धवला टीका में गणितीय न्याय राशियों के दत्त प्रमाणों को कहाँ तक सुव्यवस्थित करता है। उनके अनुसार, 'विद्वान पुरुष सम्यग्ज्ञान को *प्रमाण* कहते हैं, नामादिक के द्वारा वस्तु में भेद करने के उपाय को न्यास या *निक्षेप* कहते हैं और ज्ञाता के अभिप्राय को नय कहते हैं। इस प्रकार युक्ति से पदार्थ का ग्रहण अथवा निर्णय करना चाहिए' (धवला, पु. 3, पृ. 18)।

कथन

1.[3]शाश्वतानन्त धर्मादि द्रव्यों में रहता है, क्योंकि धर्मादिद्रव्य शाश्वतिक होने से उनका कभी भी विनाश नहीं होता है। जो गणनानन्त है, वह बहुवर्णनीय और सुगम है। एक परमाणु को अप्रदेशिकानन्त कहते हैं।

शंका – द्रव्यत्व के प्रति अविशिष्ट ऐसे शाश्वतानन्त और अप्रदेशानन्त का नोकर्म द्रव्यानन्त में अंतर्भाव क्यों नहीं हो जाता है?

समाधान – नहीं, क्योंकि, शाश्वतानन्त का नोकर्म द्रव्यानन्त में तो अन्तर्भाव होता नहीं है, क्योंकि इन दोनों में परस्पर भेद है।

स्पष्टीकरण – अन्त विनाश को कहते हैं, जिसका अन्त नहीं होता है उसे अनन्त कहते हैं।द्रव्य शाश्वतानन्त है और नोकर्म द्रव्यगत अनन्तता की अपेक्षा और कटकादि के वस्तुत: अन्त के अभाव की अपेक्षा अनन्त है, इसलिये इन दोनों में एकत्व नहीं हो सकता है। एक प्रदेशी परमाणु

में उस एक प्रदेश को छोड़कर अन्त इस संज्ञा को प्राप्त होनेवाला दूसरा प्रदेश नहीं पाया जाता है, इसलिये परमाणु अप्रदेशानन्त है। ऐसी स्थिति में द्रव्यगत *अनन्त संख्या* की अपेक्षा अनन्त संज्ञा को प्राप्त होनेवाले नोकर्मद्रव्यानन्त में वह अप्रदेशानन्त कैसे अन्तर्भूत हो सकता है, अर्थात् नहीं हो सकता है, इसलिये अप्रदेशानन्त भी स्वतंत्र है?

शंका – द्रव्य के प्रति एकत्व तो उनमें पाया ही जाता है?

समाधान – इन अनन्तों में यदि द्रव्य के प्रति एकत्व पाया जाता है तो रहा आवे, परन्तु इतने मात्र से इन अनन्तों में अन्य-अन्य प्रकार से आये हुए आनन्त्य के प्रति एकत्व नहीं हो सकता है।

यही थी श्री वीरसेनाचार्य की न्याय शैली! *आगम* का आधार था पूर्वापर विरुद्धादि दोषों के समूह से रहित और सम्पूर्ण पदार्थों के द्योतक आप्त वचन। आप्त, अठारह दोषों रहित होने से, सत्य वचन ही का कथन करता है।

2.[4] वह एक ज्ञापक सूत्र लेते हैं, *'मिथ्यादृष्टि जीव काल की अपेक्षा अनन्तानन्त अवसर्पिणियों और उत्सर्पिणियों के द्वारा अपहृत नहीं होते हैं।* दोनों ही राशियां अनन्तान्त हैं परन्तु उनके मान अलग-अलग हैं। एक-दूसरे से बड़ा है, तभी एक-दूसरे के द्वारा अपहृत नहीं हो सका है। दोनों राशियों का अस्तित्व है। प्रथम राशि को जघन्य अनन्तान्त पर वर्गित प्रक्रिया से अनेक राशियाँ उत्पन्न की जाती हैं जिनमें अनेक अनन्तात्मक राशियां प्रक्षिप्त होती हैं और अन्ततः अर्द्धच्छेद प्रक्रियाओं आदि के पश्चात् मिथ्यादृष्टि राशि को प्राप्तकर बतलाया जाता है।

यहाँ एक तो अनन्तात्मक राशियों में परिकर्माष्टक आदि गणित प्रक्रियाओं का प्रयोग न्याय-शास्त्र के अनुसार है। वे कहते हैं – 'अनन्तान्त के विषय में गुणकार और भागहार अजघन्यानुत्कृष्ट अर्थात् मध्यम अनन्तानन्त रूप ही होना चाहिये।' यह वचन परिकर्म नामक टीका में है जो सम्भवतः कुन्दकुन्द एलाचार्य की है। पुनः वे कथन करते हैं – 'ऊपर जो जघन्य परीतानन्त से विशेषाधिक कह आये हैं वह विशेषाधिक असंख्यात रूप है' – यह बात असिद्ध नहीं है, क्योंकि व्यय होने पर समाप्त होनेवाली राशि को अनन्तरूप मानने में विरोध आता है। इस प्रकार कथन करने से अर्धपुद्गल परिवर्तन का राशि के साथ क्या व्यभिचार हो जायेगा ? वे कहते हैं – यह बात नहीं, क्योंकि अर्धपुद्गलपरिवर्तन काल को उपचार से अनन्त रूप माना गया है।

3.[5] स्थूल और सूक्ष्म संबंधी न्याय भी गणित का विषय बनता है। क्या क्षेत्र प्रमाण का उल्लंघन करके काल प्रमाण का कथन किया जा सकता है? वीरसेनाचार्य समाधान देते हैं – 'जो स्थूल और अल्पवर्णनीय होता है उसका पहले ही कथन करना चाहिए।' फिर शंका होती है – 'काल प्रमाण की अपेक्षा क्षेत्रप्रमाण बहुवर्णनीय कैसे है?' वीरसेन पुनः समाधान देते हैं – 'क्षेत्र प्रमाण में लोक प्ररूपण करने योग्य है। उसका भी जगच्छ्रेणी के प्ररूपण बिना ज्ञान नहीं हो सकता है। इसलिए जगच्छ्रेणी का प्ररूपण करना चाहिये। जगच्छ्रेणी का भी रज्जु के प्ररूपण के बिना ज्ञान नहीं हो सकता है, इसलिये रज्जु का प्ररूपण करना चाहिये। रज्जु का भी उसके अर्धच्छेदों का कथन किये बिना ज्ञान नहीं हो सकता है, इसलिये रज्जु के छेदों का प्ररूपण करना चाहिये। रज्जु के छेदों का भी द्वीपों और सागरों के प्ररूपण के बिना ज्ञान नहीं हो सकता है, इसलिये द्वीपों और सागरों का प्ररूपण करना चाहिये। परन्तु काल प्रमाण में, इस प्रकार बड़ी

प्ररूपणा नहीं है, अत: काल प्रमाण की प्ररूपण की अपेक्षा क्षेत्र प्रमाण की प्ररूपण अतिसूक्ष्म रूप से वर्णित है, यह बात जानी जाती है'।

एक और श्लोक वे उद्धृत करते हैं, क्या इसी के समर्थन में ? -

सुहुमो य हवदि कालो तत्तो य सुहुमदरं हवदि खेत्तं ।
अंगुल-असंखभागे हवंति कप्पा असंखेज्जा ॥10॥

नहीं ! वे कहते हैं कि यह घटित नहीं क्योंकि इससे क्षेत्र प्ररूपणा के अनन्तर द्रव्य-प्ररूपणा का प्रसंग प्राप्त होता है। कारण यह है कि अनन्त परमाणुरूप प्रदेशों से निष्पन्न एक द्रव्यांगुल में अवगाहन की अपेक्षा एक क्षेत्रांगुल ही है। किन्तु गणना की अपेक्षा अनन्त क्षेत्रांगुल होते हैं, इसलिए उपर्युक्त न्यायसंगत नहीं।

4. [6]आधुनिक गणितीय राशि न्याय सिद्धान्त में एक-एक, एक-अनेक आदि संवाद (correspondence) द्वारा राशियों की समानता-असमानता आदि स्थापित करने को अत्यधिक महत्त्वपूर्ण माना गया है, जिसका प्रयोग गैलिलियो, कैण्टर आदि ने किया। इसे ही वीरसेनाचार्य ने शंकाकार की शंका - 'काल प्रमाण की अपेक्षा मिथ्यादृष्टि जीवों का प्रमाण कैसे निकाला गया है?' होने पर उसे निम्न प्रकार समाधानित किया है जो 'दिगम्बर जैन इतिहास' की उत्कृष्ट सूझबूझ है - 'एक ओर अनन्तानन्त अवसर्पिणियों और उत्सर्पिणियों के समयों को स्थापित करके और दूसरी ओर मिथ्यादृष्टि जीवों की राशि को स्थापित करके काल के समयों में से एक-एक समय और युगपत् उसी के साथ मिथ्यादृष्टि जीवराशि के प्रमाण में से एक-एक जीव कम करते जाना चाहिये। इस प्रकार उत्तरोत्तर काल के समय और जीवराशि के प्रमाण को कम करते हुए चले जाने पर अनन्तानन्त अवसर्पिणियों और उत्सर्पिणियों के सब समय समाप्त हो जाते हैं; परन्तु मिथ्यादृष्टि जीवराशि का प्रमाण समाप्त नहीं होता है।'

जब शंकाकार कहता है कि मिथ्यादृष्टि जीवराशि का प्रमाण भले ही समाप्त हो जाओ परन्तु काल के सम्पूर्ण समय समाप्त नहीं होते, क्योंकि धर्मद्रव्य, अधर्मद्रव्य और लोकाकाश ये तीनों ही समान होते हुए स्तोक हैं तथा जीवद्रव्य, पुद्गलद्रव्य, काल के समय और आकाश के प्रदेश ये उत्तरोत्तर वृद्धि की अपेक्षा अनन्त गुणे हैं। वीरसेनाचार्य तब उत्तर देते हैं कि यहां अतीत काल का ही ग्रहण किया गया है, सम्पूर्ण काल राशि का नहीं। कहा भी है -

कालो तिहा विहत्तो अणागदो वट्टमाणतीदो य ।
एदेसु अदीदेण दु मिणिज्जदे जीव रासी दु ॥21॥

किसी भी अनन्तात्मक राशि से बड़ी अनन्तात्मक राशि बनाने की *विकर्ण विधि* खोजने का श्रेय जार्ज कैण्टर को है। जैसे प्राकृत संख्याएं जो एक से अनन्त तक जाती हैं, उनकी राशि को गण्य कहा जाये, तो उसकी तुलना में सम्पूर्ण रीयल (real) संख्याओं की राशि को अगण्य कहा जाता है। इसके विस्तृत विवरण से पता चलता है कि भंग विधि द्वारा ही एक अनन्त से बड़ा अनन्त एक-एक या एक-अनेक संवाद द्वारा निर्मित किया जा सकता है।[7]

5. [9]इसी प्रकार वीरसेनाचार्य पुनः ज्ञापकसूत्र, 'क्षेत्र प्रमाण की अपेक्षा अनन्तान्त लोकप्रमाण मिथ्यादृष्टि जीव राशि का प्रमाण है,' लेते हैं और एक गाथा द्वारा इसे प्रतिबोधित करते हैं – जिस प्रकार कोई प्रस्थ से कोदों के समान सम्पूर्ण बीजों का माप करता है उसी प्रकार मिथ्यादृष्टि जीवराशि की लोक से अर्थात् लोक के प्रदेशों से तुलना करने पर मिथ्यादृष्टि जीवराशि प्रमाण लाने के लिए अनन्त लोक होते हैं, अर्थात् मिथ्यादृष्टि जीवराशि अनन्त लोकप्रमाण है ॥ 22 ॥[9]

शंकाकार इस पर प्रश्न करता है – 'प्रस्थ से बहिर्भूत पुरुष प्रस्थ से बहिर्भूत बीजों को प्रस्थ के द्वारा मापता है, यह तो युक्त है, परन्तु लोक के भीतर रहनेवाला पुरुष लोक के भीतर रहनेवाली मिथ्यादृष्टि जीवराशि को लोक के द्वारा कैसे माप सकता है?'

इसे निर्दोष सिद्ध करने के लिए वीरसेनाचार्य युक्ति देते हैं कि बुद्धि से ही सम्पूर्ण मिथ्यादृष्टि जीव लोक द्वारा मापे जाते हैं। यह कैसे संभव है ? इसका समाधान वीरसेनाचार्य इस प्रकार देते हैं – लोकाकाश के एक-एक प्रदेश पर एक-एक मिथ्यादृष्टि जीव को निक्षिप्त करके एक लोक हो गया, इस प्रकार मन से संकल्प करना चाहिए। इस प्रकार पुनः पुनः माप करने पर मिथ्यादृष्टि जीवराशि अनन्त लोकप्रमाण होती है। यहां एक-एक संवाद और एक-अनेक संवाद की विधियां अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं। यह विधि परम्परा से आई प्रतीत होती है; क्योंकि यहां भी इस प्राचीन प्राकृत गाथा को उपयोग करने के लिए उद्धृत किया गया है –

लोगागास पदेसे एक्केक्के णिक्खिवेवि तह दिट्ठिं ।
एवं गणिज्जगाणे हवंतिलोगा अणंता दु ॥ 23 ॥

इस प्रकार नवीं सदी तक गणितीय न्याय की शैली उपर्युक्त रूप में चली आई।

6. इसके पश्चात् ज्ञापक सूत्र है, 'पूर्वोक्त तीनों प्रमाण ही भावप्रमाण हैं ॥ 5 ॥' अधिगम और ज्ञान प्रमाण दोनों एकार्थवाची हैं। द्रव्य, क्षेत्र, काल प्रमाण के ज्ञान को भावप्रमाण मान लेने पर उसके मुख्य प्रमाण होने से बिना कहे सिद्धि हो जाती है। भाव प्रमाण बहुवर्णनीय है। हेतुवाद और अहेतुवाद को अवधारण करने में समर्थ शिष्यों का अभाव होने से सूत्र में स्वतंत्ररूप से कथन नहीं है।

वस्तुतः परिकर्माष्टक रूप सभी संक्रियाएं[10] उक्त प्रमाण राशियों के साथ भाव द्वारा काल्पनिक रूप से करना संभव है, जैसा परिमित के साथ, वैसा असंख्येय और अनन्त राशियों के साथ ही। जैसे मिथ्यादृष्टि जीवराशि का संपूर्ण पर्यायों में भाग देने पर जो भाग लब्ध हो उसे भागहार रूप से स्थापित कर संपूर्ण पर्यायों के ऊपर *खंडित, भाजित, विरलित,* अपहृत का कथन भाव प्रमाण की समझ के लिए करना चाहिए। आगे, मिथ्यादृष्टि जीवराशि के विषय में निश्चय करने हेतु पुनः वर्गस्थान में ये संक्रियाएं दिखाना चाहिये जो पुनः गणितीय न्याय का अनन्तात्मक राशियों तक प्रयोग बतलाती हैं – वर्गस्थान में खण्डित, भाजित, विरलित, अपहृत, प्रमाण, कारण, निरुक्ति और विकल्प द्वारा मिथ्यादृष्टि जीवराशि का प्रमाण सुनिश्चित करते हैं। इसका विवरण बारम्बार आया है, न केवल अनन्त वरन् असंख्येय राशियों के लिए भी।

इससे प्रतीत होता है कि अमूर्त कल्पनाओं में रहनेवाली राशियों में जब ये सभी गणित की संक्रियाएं हो सकती हैं, भाव प्रमाणों में ही, तो भावों का भी गणित होता है जो पुनः गणितीय न्याय द्वारा पुष्ट किया जाता है। जहां एक ओर कैण्टर का अनन्त राशियों का सिद्धान्त जोर पकड़ता जा रहा था, वहां उसे परिपुष्ट करने हेतु तथा गणित को नयी नींव देने हेतु गणितीय न्याय का रूप ऐसा कुछ निखरा कि न्याय को संदृष्टिमय बनाने का प्रयास होने लगे। इसे Symbolic Logic कहते हैं। प्राचीन एवं मध्य युग में इस तरह का कोई प्रयत्न नहीं दिखाई देता, केवल संदृष्टि एक-दो स्थान में आईं पर चर रूप लेकर नहीं। संदृष्टियों के मध्य कोई गणना जैसी वस्तु अन्यत्र नहीं, है तो केवल कर्म सिद्धान्त में अस्पष्ट रूप से प्रकट, परन्तु धवला में शब्दों में ही। विशेष रूप से अधस्तन एवं उपरिम विकल्प में प्राप्य है। बीजाक्षरों द्वारा न्याय का गणित बनाया जाने लगा, जिसका सर्वप्रथम प्रयोग लाइब्नित्ज द्वारा किया गया। पश्चात् बूल और दे मोर्गों द्वारा इंग्लैण्ड में नवीं सदी के प्रथमार्ध में संदृष्टिमय न्याय की नींव डाली गयी। इनमें प्रथम बार न्याय का कलन, राशियों के कलन के रूप में संक्रियाओं के पूर्ण नियमों सहित अवतरित हुआ। इसका विकास बूलीय बीजगणित रूप में हुआ। भाव राशियों का संदृष्टि मय कलन जैन दिगम्बर अर्थसंदृष्टि अधिकारों में तथा उनसे 400 वर्ष पूर्व कर्णाटक वृत्ति में द्रष्टव्य है।

पूर्व में हम बतला आए हैं कि किस प्रकार कैण्टर के राशि सिद्धान्त में विरोधाभास आ गया था। जो हमने केवलज्ञान राशि की स्थापना की, सभी सिद्धजीवों एवं केवलियों की भी केवलज्ञान राशि भी मिलाई जावे वह उतनी ही रहेगी। प्रत्येक सिद्ध जीव की केवलज्ञान राशि भी उतनी ही होगी, अतः यहां पूर्वापर विरोध उठाने का प्रश्न नहीं उठता है, उससे एक अधिक अविभागी प्रतिच्छेद भी नहीं। उसमें आनेवाली अनन्त उपराशियों के मध्य भी अल्प-बहुत्व स्थापित किया गया है। जघन्य और उत्कृष्ट और उनके बीच रहनेवाली राशियां भी उस अल्प-बहुल गणना में आती हैं। आज उसके लिए शब्द है – 'Comparability'। जब धाराओं द्वारा राशियों को विभिन्न पद स्थानों में उत्पन्न करते हैं तो इस विज्ञान को स्थल विज्ञान या topology कहते हैं।

पूर्वापर विरोधाभास का सबसे प्राचीन उदाहरण एपीमेनिडीज का मिथ्याभास माना जाता है जो किसी असत्यवादी के सम्बन्ध में है। एपीमेनिडीज नामक क्रिटान का निवासी कहता है – "मैं झूठ बोल रहा हूँ।" यदि यह कथन सत्य है तो वह झूठ बोल रहा है और यह कथन झूठ है। यदि यह कथन असत्य है तो वह झूठ नहीं बोल रहा है अतः कथन सत्य है। इसी प्रकार मान लो काले तख्ते पर एक वाक्य लिखा है – "काले तख्ते के इस पैनल पर लिखा मात्र वाक्य असत्य है।" यदि यह वाक्य सत्य है तो उसे असत्य होना चाहिए और विलोमतः भी।

एक और मनोरंजक पहेली है जिसे मगर का विभ्रम (dilemma) कहा जाता है। मगर ने एक बालक को चुरा लिया है और वह उसके पिता से कहता है – "मैं बालक को वापिस कर दूंगा यदि तुम सही-सही अंदाज लगाओ कि मैं बालक को वापिस करूंगा या नहीं।" पिता उत्तर देता है – "तुम बालक को वापिस नहीं करोगे।" बतलाओ कि मगर को क्या करना चाहिये?

इसी प्रकार राशि-सिद्धान्त में अनेक प्रकार के वचन, वाक्य, कथन, ज्ञापक सूत्र षट्खंडागम, कषायप्राभृत एवं उनकी टीकाओं में आए हुए हैं, जिन्हें न्यायसंगत प्रमाणित करने में

श्री वीरसेनाचार्य एवं उनके पूर्वाचार्यों की सामग्री उपलब्ध है। इस पर, गणितीय न्यायशास्त्र विषयक एक ग्रंथ भी बनाया जा सकता है जो अर्थसंदृष्टिमय हो और आधुनिक राशि-सिद्धान्त के संदर्भ को लिये हुए हो। आज जितना भी आधुनिक न्याय में कार्य हुआ है वह लाखों पृष्ठों व पत्रों में उपलब्ध है तथा नई विधियों से भरा हुआ है, दर्शन, सिद्धान्त, विज्ञानादि के परिप्रेक्ष्य में यह अंशदान नये आयामों तक ले जा सकता है।

आज का तर्क शास्त्र संकल्पनाओं का विभाजन, वर्गीकरण, परिसीमन और सामान्यीकरण तो करता ही है, साथ ही संकल्पनाओं की व्याप्तियों के साथ संक्रियाओं का ज्ञान भी उपलब्ध कराता है, जैसा दिगम्बर जैन कर्म सिद्धान्त विषय धवला, जयधवला भाव-राशियों का बोध कराने में यही सब राशि-सिद्धान्त का उपयोग निर्देशित करते हैं। व्यवहार, सत्य एवं निश्चय का निर्णय करनेवाली नई विधियों को भी हमें तुलना में रखना है। अचर और चर राशियों के लिए गोम्मटसारादि ग्रंथों में संदृष्टियां हैं, किन्तु अनेक गर्भित अभिप्रायों को शब्दों द्वारा निदर्शित किया जाता रहा है अथवा बिना उल्लेख किये समझा जाता रहा है। इन सभी को एक नया संदृष्टिमय रूप देना है ताकि ज्ञान के नये क्षितिज खुल सकें। सम्यक् चिन्तन एवं अनुमान की नवीन विधाएं, खंडन-मंडन के नये आयाम आदि से भी तुलना करना है। और कर्म-सिद्धान्त के गणित को देखते हुए उसके प्रमाणन की समस्याओं हेतु तर्कशास्त्र या न्याय में नई तकनीकों को लाना है। तर्कशास्त्र के अनेक प्रकार सामने आ चुके हैं, यथा – अंत: प्रज्ञात्मक, रचनात्मक, बहुमूल्यक, निश्चयमात्रिक, सकारात्मक, परा-अव्याघातक आदि। इन सभी के दृष्टिकोणों का स्याद्वाद, अनेकान्त तथा अन्य विधिपरक जैन न्याय से तुलनात्मक अध्ययन आवश्यक हो गया है।

अत: श्री वीरसेनाचार्य का अंशदान जो न्याय में कर्मसिद्धान्त विषयक गणित विज्ञान में सर्वश्रेष्ठ, गर्भित, है, उसे अब वैज्ञानिक परिप्रेक्ष्य में अत्यधिक महत्त्व प्राप्त हुआ है। उसे शोध की वस्तु बनाना अगली पीढ़ी का परम कर्त्तव्य है।

---

1. Jain, L. C., and Jain, C. K., "The Jaina Ulterior Motive of Mathematical Philosophy", लेख, आस्था और चिन्तन, आचार्यरत्न श्री देशभूषणजी महाराज, अभिनन्दन ग्रंथ, दिल्ली, 1987, पृ. 41-59, (खंड जैन प्राच्य विद्याएं)। और भी देखिए – Jain, L.C., System Theory in Jaina School of Mathematics, – I, I.J.H.S., Vol. 14, No. 1, 1979, pp. 29-63, - II (with Ku. Meena Jain), I.J.H.S., Vol. 24 (3); 1989, pp. 163-180.

2. Jain, L. C., "Set Theory in Jaina School of Mathematics", I.J.H.S., Calcutta, vol. 8, no. 1., 1973, pp 1-27.

   Jain, L.C., "Divergent sequences Locating Transfinite Sets in Trilokasāra", I.J.H.S. vol. 12, no. 1, 1977, pp 57-75.

3. धवला, पु. 3, पृ. 16 आदि।

4. धवला, पु. 3, पृ. 27 आदि।

5. धवला, पु. 3, पृ. 27 ।

6. वही, पु. 28, 29। Vide *The Method of One to One and other Correspondence,* applied to prove an infinite greater then another infinite, in any test book of set theory विशेष विधि देखने के लिए जो विकर्ण विधि के नाम से विख्यात है।

   देखिये, Suppes, P., Aniomatic Set Theory, Princeton, 1960, 191 ff. Wilder, R., The Foundations of Mathematics, New York, 1952, 82 ff. Stoll, R., Set Theory and Logic, New Delhi, 1976, 36.

7. भंग विद्या पर L. C. Jain, "The Prastara Ratnavali". INSA PROJECT, 1989-91 (अप्रकाशित) देखिये। मुनि रत्नचन्द्र स्वामी शतावधानी द्वारा यह ग्रंथ रचा गया था। गोम्मटसारादि में भी भंग विद्या पर अच्छी सामग्री उपलब्ध है।

8. धवला, पु. 3, पृ. 32-33।

9. पत्थेण कोदवेण व जह कोइ मिणेज्ज सव्व बीजाइं ।
   एवं मिणिज्जमाणे हवंति लोग अणंता दु ॥22॥ धवला, पु. 3, पृ. 32॥

10. इसे विस्तार से समझने हेतु देखिये धवला, पु. 3, पृ. 39 आदि। देखिये : Jain, L.C., On Certain Mathematical Topics of the Dhavala Texts, I.J.H.S., Vo. 11, No. 2, pp. 85-111, 1976.

दीक्षा ज्वैलर्स के ऊपर
554, सराफा
जबलपुर-482002

णमो अरिहंताणं

'णमो अरिहंताणं' अरिहननादरिहन्ता। नरकतिर्यक्कुमानुष्यप्रेतावासगताशेष-दुःखप्राप्तिनिमित्तत्वादरिर्मोहः।

× × ×

अतिशयपूजार्हत्वाद्वार्हन्तः। स्वर्गावतरणजन्माभिषेकपरिनिष्क्रमणकेवलज्ञानोत्पत्ति-परिनिर्वाणेषु देवकृतानां पूजानां देवासुरमानवप्राप्तपूजाभ्योऽधिकत्वादतिशयाना-मर्हत्वाद्योग्यत्वादर्हन्तः।

षट्खण्डागम (पु. 1, पृ. 43-45)

'णमो अरिहंताण' अरिहंतों को नमस्कार हो। अरि अर्थात् शत्रुओं के नाश करने से 'अरिहंत' हैं। नरक, तिर्यंच, कुमानुष और प्रेत इन पर्यायों में निवास करने से होनेवाले समस्त दुःखों की प्राप्ति का निमित्तकारण होने से मोह को 'अरि' अर्थात् शत्रु कहा है।

× × ×

अथवा, सातिशय पूजा के योग्य होने से अर्हन्त होते हैं, क्योंकि गर्भ, जन्म, दीक्षा, केवल और निर्वाण इन पाँचों कल्याणकों में देवों द्वारा की गई पूजाएं देव, असुर और मनुष्यों को प्राप्त पूजाओं से अधिक अर्थात् महान् हैं, इसलिए इन अतिशयों के योग्य होने से 'अर्हन्त' होते हैं।

आचार्य वीरसेन और उनका ज्ञानकेन्द्र

– आचार्य राजकुमार जैन

•

आचार्य वीरसेन अपने समय के अप्रतिम विद्वान थे। उनका बुद्धि-वैभव अत्यन्त अगाध और पाण्डित्यपूर्ण था। वे सिद्धान्त के पारगामी विद्वान थे। यही कारण है कि उनका पाण्डित्य दिगन्त-व्यापी हो गया था। उनकी एक विशेषता यह थी कि उन्होंने अपने पूर्ववर्ती समग्र साहित्य का अध्ययन और अनुशीलन किया था जिसके परिणामस्वरूप वे सिद्धान्त के पारगामी विद्वान हुए और उनका पाण्डित्य विश्व-विश्रुत हुआ। हरिवंशपुराण में उन्हें कवियों का चक्रवर्ती निरूपित किया गया है जिनकी कीर्ति निष्कलङ्क अवभासित है। यथा –

जितात्म परलोकस्य कवीनां चक्रवर्तिनः ।
वीरसेनगुरोः कीर्तिरकलङ्कावभासते ॥ 1.39॥

– जिन्होंने अपने और दूसरों के पक्षावलम्बियों को जीत लिया है, जो कवियों के चक्रवर्ती हैं ऐसे गुरु वीरसेन स्वामी की निर्मल कीर्ति प्रकाशित हो रही है।

श्री वीरसेन स्वामी के अगाध पाण्डित्य की जितनी व्याख्या की जाय वह अल्प है और सूर्य को दीपक दिखाने के तुल्य है। उन्हें भट्टारक पदवी प्राप्त थी और वे साक्षात् केवली की भांति लौकिक, आध्यात्मिक, दार्शनिक, धार्मिक एवं अन्य समस्त विधाओं के पारगामी थे। उनकी

भारती-दिव्यवाणी भारती-भरत चक्रवर्ती की आज्ञा के समान षट् खण्ड में अस्खलित थी। अभिप्राय यह है कि जिस प्रकार षट् खण्ड भूमण्डल पर चक्रवर्ती भरत की आज्ञा का पालन अबाध गति से किया जाता था अर्थात् सम्पूर्ण पृथ्वी पर उनकी आज्ञा व्याप्त थी उसी प्रकार छः खण्डरूप षट्खण्डागम नामक परमागम में प्ररूपित आचार्य वीरसेन की भारती-वाणी का वर्चस्व निर्बाधरूप से संचारित हुआ। यहाँ यह कहना अप्रासंगिक नहीं होगा कि आचार्य वीरसेन ने षट् खण्डागम पर 'धवला' एवं 'जयधवला' नामक टीकाएं लिखकर सैद्धान्तिक विषयों में तो अपना पाण्डित्यरूप प्रदर्शित किया ही, भारती का वर्चस्व भी प्रतिपादित किया। इन दोनों टीकाओं के अध्ययन-अनुशीलन से ज्ञात होता है कि उन्होंने मूलग्रंथ में आए हुए विषयों की व्याख्या बहुत ही स्पष्टरूप से की है जिसका खण्डन किया जाना सम्भव नहीं है।

आचार्य वीरसेन की वाणी की एक विशेषता यह थी कि वह मधुर थी और समस्त प्राणियों को उसी प्रकार प्रमुदित करनेवाली थी जिस प्रकार भरत चक्रवर्ती की आज्ञा वैभव से परिपूर्ण धन-सम्पत्तिवालों को प्रसन्न करनेवाली थी। सम्राट भरत की आज्ञा का प्रभाव क्षेत्र, संचार और व्याप्ति उनके द्वारा आक्रान्त सम्पूर्ण पृथ्वी पर थी तो कुशाग्रबुद्धि, अप्रतिम वैदूष्य और अगाध पाण्डित्य के धनी कविचक्रवर्ती आचार्य वीरसेन की निर्मल भारती से सिद्धान्त, न्याय, व्याकरण आदि समस्त विषय आक्रान्त थे। उपर्युक्त कथन की पुष्टि जयधवला में प्रतिपादित निम्न प्रशस्ति से होती है –

प्रीणित प्राणिसम्पत्तिराक्रान्ता शेषगोचरा ।
भारती भारतीवाज्ञा षट्खण्डे यस्य नास्खलत् ॥

वे विद्वानों, ज्ञानियों एवं प्राज्ञ पुरुषों के द्वारा 'प्रज्ञा श्रमण' कहलाते थे। प्रज्ञा चार प्रकार की मानी गई है – औत्पत्तिकी, वैनयिकी, कर्मजा और पारिणामिकी। जैसा कि धवला (पृ. 9, पृ. 81) में प्रतिपादित है – "अदिट्ठ-अस्सुदेसु अट्ठेस णाणुप्पायण जोग्गत्तं पण्णा णाम।" अर्थात् अदृष्ट और अश्रुत विषयों में ज्ञान की योग्यता होना प्रज्ञा कहलाती है। इस प्रज्ञा के विद्यमान रहने से ही प्राज्ञ पुरुष उन्हें 'प्रज्ञा श्रमण' कहते थे। उनकी स्वाभाविक प्रज्ञा, अदृष्ट और अश्रुत पदार्थों को जानने/अवगत करनेरूप योग्यता को देखकर सर्वज्ञ के विषय में विज्ञजनों की शंका सर्वथा निर्मूल हो गई थी। अभिप्राय यह है कि तत्कालीन विज्ञजनों को यह शंका हुई कि एक व्यक्ति सर्वज्ञ (समस्त अदृष्ट-अश्रुत पदार्थों का ज्ञाता) कैसे हो सकता है? किन्तु जब अप्रतिम प्रीणित प्राणि भारती – जिनवाणीधारक आचार्य वीरसेन से उनका साक्षात्कार हुआ और उन्हें अनुभव हुआ कि जब एक व्यक्ति आगम द्वारा इतना बड़ा ज्ञानी हो सकता है तो अतीन्द्रिय प्रत्यक्ष ज्ञानधारी सर्वज्ञ, एक ही काल में समस्त पदार्थों का ज्ञाता हो सकता है। इसमें सन्देह नहीं है कि आचार्य वीरसेन अपने समय के एक उच्चकोटि के विद्वान थे। वे दोनों सिद्धान्त ग्रंथों के रहस्य के अपूर्व वेत्ता थे तथा प्रथम सिद्धान्तग्रंथ षट् खण्डागम के छहों खण्डों में तो उनकी भारती भरत की आज्ञा की भांति अस्खलित गति थी। उन्होंने अपनी दोनों टीकाओं में जिन विविध विषयों का संकलन तथा निरूपण किया है उन्हें देखकर यदि उस समय के भी विद्वानों की सर्वज्ञ के

सद्भाव सम्बन्धी शंका दूर हो गई थी तो उसमें कोई आश्चर्य नहीं है क्योंकि इस समय भी उसे पढ़कर विद्वानों को यह आश्चर्य हुए बिना नहीं रहता कि एक व्यक्ति को कितने विषयों का कितना अधिक ज्ञान था। आचार्य वीरसेन के प्रज्ञा श्रमण होने का संकेत जय धवला में प्रतिपादित प्रशस्ति में मिलता है, जो निम्न प्रकार है –

यस्य नैसर्गिकीं प्रज्ञां दृष्ट्वा सर्वार्थगामिनीम् ।
जाता सर्वज्ञसद्भावे निरारेका मनीषिणः॥
यं प्राहुः प्रस्फुरद्बोध दीधितिप्रसरोदयः।
श्रुतकेवलिनं प्राज्ञाः प्रज्ञाश्रमणसत्तमम् ॥

निःसन्देह वे प्रथम चक्रवर्ती भरत की भांति प्रथम सिद्धान्त चक्रवर्ती थे। उनके बाद से ही सिद्धान्त ग्रंथों के ज्ञाताओं को यह पद दिया जाने लगा था। आदिपुराण में उनके गुणों और विशेषताओं का बखान करते हुए निम्न प्रकार से उनका स्तुतिगान किया गया है जो अद्वितीय है –

श्री वीरसेन इत्यात्त भट्टारकपृथुप्रथः।
स नः पुनातु पूतात्मा कविवृन्दारको मुनिः ॥
लोकवित्वं कवित्वं च स्थितं भट्टारके द्वयम् ।
वाग्मिता वाग्मिनो यस्य वाचा वाचस्पतेरपि॥
सिद्धान्तोपनिबन्धानां विधातुर्मद्गुरोश्चिरम् ।
मन्मनःसरसि स्थेयान् मृदुपादकुशेशयम् ॥ 1.55-57॥

अर्थात् वे अत्यन्त प्रसिद्ध वीरसेन भट्टारक हमें पवित्र करें, जिनकी आत्मा स्वयं पवित्र है, जो कवियों में श्रेष्ठ हैं, जिस भट्टारक में लोकव्यवहार विज्ञता एवं कवित्व दोनों विद्यमान हैं (लोकव्यवहार एवं काव्यस्वरूप के महान ज्ञाता हैं), जिनकी वाणी के समक्ष औरों की तो बात ही क्या, स्वयं सुरगुरु बृहस्पति की वाणी भी सीमित/अल्प प्रतीत होती है, सिद्धान्त ग्रंथ षट्खण्डागम के ऊपर उपनिबन्ध-निबन्धात्मक टीका की रचना करने के कारण जिनका ग्रंथ सर्वत्र प्रसारित है।

धवला की प्रशस्ति गाथा 5 के अनुसार आचार्य वीरसेन सिद्धान्त, छन्द, ज्योतिष, व्याकरण और प्रमाणशास्त्र में निपुण थे – "सिद्धन्तछंदजोइसवायरण पमाण सत्थणिवुणेण .....।"

आचार्य वीरसेन के आगम-विषयक ज्ञान और बुद्धिचातुर्य को देखकर विद्वान उन्हें श्रुत-केवली और प्रज्ञाश्रमणों में श्रेष्ठ तक कहते थे। ग्यारह अंग और चौदह पूर्व का पाठी होने पर श्रुतावतरण और वीर्यान्तराय के प्रकृष्ट क्षयोपशम से जो असाधारण प्रज्ञा-शक्ति प्राप्त हो जाती है, जिसके कारण द्वादशांग के विषयों का निःसंशय कथन किया जा सकता है उसे प्रज्ञाश्रमण ऋद्धि कहते हैं और उसके धारक प्रज्ञाश्रमण कहलाते हैं। जयधवला में प्रतिपादित उपर्युक्त प्रशस्ति में आचार्य वीरसेन को ऐसे ही प्रज्ञाश्रमणों में श्रेष्ठ बतलाया गया है। श्री वीरसेन स्वामी की इस प्रज्ञाशक्ति के दर्शन उनकी टीकाओं में पदे-पदे होते हैं। प्रशस्तिकार के उपर्युक्त उल्लेखों

से ज्ञात होता है कि आचार्य वीरसेन अपने समय में ही किस कोटि के ज्ञानी और संयमी समझे जाते थे। वे प्राचीन ग्रन्थों एवं अन्य विषयों की पुस्तकें पढ़ने के इतने अधिक प्रेमी थे कि वे अपने से पूर्व के समस्त पुस्तक-पाठकों से आगे बढ़ गये थे। उनके पुस्तक-प्रेम और उससे अर्जित ज्ञान का परिचय उनके द्वारा रचित टीकाओं में विविध ग्रंथों से उद्धृत उद्धरणों से सहज ही हो जाता है।

आचार्य वीरसेन का ज्ञान-केन्द्र

प्राचीन काल में अध्ययन-अध्यापन या शिक्षा प्रदान करने की दृष्टि से विभिन्न स्थानों पर ज्ञानकेन्द्र या ज्ञानपीठ की स्थापना की जाती थी जिनमें धार्मिक एवं सन्तोषी वृत्तिवाले संयमी जैन गृहस्थ शिक्षा देते थे। अधिकांश बसति (जिन मन्दिर) से सम्बद्ध पाठशाला में भी यह कार्य किया जाता था जिनमें प्रायः गृहसेवी या गृहत्यागी ब्रह्मचारी, ब्रह्मचारिणियां आदि धार्मिक शिक्षा ग्रहण करते थे। कुछ पाठशालाओं का स्वरूप अधिक विकसित होता था जिनमें धार्मिक सिद्धान्त ग्रंथों की उच्च शिक्षा की व्यवस्था के साथ ग्रंथ-संग्रह एवं ग्रंथ-लेखन की भी व्यवस्था रहती थी। ऐसी संस्था ज्ञान-केन्द्र या ज्ञानपीठ के रूप में ख्यात होती थी। उन ज्ञानकेन्द्रों में यद्यपि स्थायीरूप से आचार्य आदि की नियुक्ति रहती थी जो नियमितरूप से शिक्षा प्रदान करते थे, साथ ही क्षुल्लक, ऐलक एवं निर्ग्रंथ साधु भी जब अपने विहार-काल में विशेषतः चातुर्मास समय में वहाँ निवास करते थे तो वे भी इस शिक्षण में अपना योगदान करते थे, जिसका लाभ उस क्षेत्र की धर्मानुरागी जनता को भी मिलता था। जो विशाल ज्ञानपीठ होते थे उनका नियंत्रण एवं संचालन दिग्गज निर्ग्रंथाचार्यों द्वारा ही होता था और वहाँ वे अपने गुरुबन्धुओं, शिष्यों-प्रशिष्यों के वृहत् परिवार के साथ ज्ञानाराधन एवं साधना (तपश्चर्या) करते थे। अपनी चर्या के नियम के अनुसार वे निष्परिग्रही/तपस्वी, दिगम्बर साधु (मुनि जन) समय-समय पर यत्र-तत्र अल्पाधिक विहार भी करते थे किन्तु उनका स्थायी निवास प्रायः वहीं होता था जहां उनका साधना-स्थल या ध्यानकेन्द्र या ज्ञानकेन्द्र (ज्ञानपीठ) था। वे ज्ञानकेन्द्र मात्र साधना या तपश्चर्या के केन्द्र नहीं थे, अपितु विद्यापीठ के रूप में विभिन्न लौकिक विषयों की शिक्षा का भी पर्याप्त प्रबन्ध वहां था। धार्मिक एवं दार्शनिक तत्वानुचिन्तन के साथ गणित, ज्योतिष, नीतिशास्त्र, आचारशास्त्र, राजनीति, आयुर्वेद आदि विषयों के उच्चस्तरीय शिक्षण की पर्याप्त व्यवस्था वहां की विशेषता थी। ज्ञानपिपासु साधुओं को तो वहां उनके अध्ययन, मनन-चिन्तन एवं अनुशीलन की निर्बाध व्यवस्था थी ही, ज्ञानार्थी सामान्यजन जिनमें राजपरिवार या राजघरानों से सम्बन्धित राजकुमार एवं अन्य व्यक्तियों के लिए भी उन ज्ञानकेन्द्रों (विद्यापीठों) के द्वार खुले हुए थे। सामाजिक व्यवस्था के अन्तर्गत उन केन्द्रों में निःशुल्क आवास, भोजन एवं चिकित्सा की समुचित व्यवस्था थी जिससे ज्ञानार्थी छात्र न केवल इन समस्त व्यवस्थाओं की चिन्ता से मुक्त रहे, अपितु उनमें उच्च-हीनता का भेद-भाव नहीं पनप सके क्योंकि समानता का आदर्श वहाँ की प्रथम अनिवार्यता थी।

ऐसे ज्ञानकेन्द्रों में एक विशाल और प्रमुख ज्ञानकेन्द्र वाटग्राम का था जो राष्ट्रकूट काल (लगभग ढाई सौ वर्ष) में राष्ट्रकूट साम्राज्य के ज्ञानपीठों (विद्यापीठों) में विशालतम एवं

प्रमुख था। इतिहास-मनीषी डॉ. ज्योतिप्रसाद जैन ने इस विषय पर विस्तृत प्रकाश डाला है (शोधादर्श-14, जुलाई 1991)। वे लिखते हैं कि वराड प्रदेश (बरार) में तत्कालीन नासिक देश (प्रान्त) के बाटनगर नामक विषय (जिला) का मुख्य स्थान यह वटग्राम या वाटग्रामपुर या वाटनगर था, जिसकी पहचान वर्तमान महाराष्ट्र राज्य के नासिक जिला के डिंडोरी तालुका में स्थित वानी नाम ग्राम से की गई है। नासिक नगर से पांच मील उत्तर की ओर सतमाला अपरनाम चन्दोर नाम की पहाड़ी-माला है जिसकी एक पहाड़ी पर चाम्भार-लेण नाम से प्रसिद्ध एक प्राचीन उत्खनित जैन गुफा-श्रेणी है। यह अनुमान किया जाता है कि प्राचीन काल में ये गुफाएं जैन मुनियों के निवास के उपयोग में आती थीं। इस पहाड़ी के उस पार ही वानी नाम का गांव बसा हुआ है जहाँ कि उक्त काल में उपर्युक्त वाटनगर बसा हुआ था। बहुसंख्यक गुफाओं के इस सिलसिले को देखकर यह सहज ही अनुमान होता है कि यहाँ किसी समय एक महान जैन संस्थान रहा होगा। वस्तुतः राष्ट्रकूट युग में रहा ही था। उस समय इस संस्थान के केन्द्रीय भाग में अष्टम तीर्थंकर श्री चन्द्रप्रभ का एक मनोरम चैत्यालय भी स्थित था जिसके सम्बन्ध में उस काल में भी यह किंवदन्ती प्रचलित थी कि वह आणतेन्द्र द्वारा निर्मापित है। यह पुनीत चैत्य ही संभवतया संस्थान के कुलपति का आवास-स्थल था।

वाटनगर के इस ज्ञानपीठ की स्थापना का श्रेय संभवतया पंचस्तूप निकाय (जो कालान्तर में सेनसंघ के नाम से प्रसिद्ध हुआ) के दिगम्बराचार्यों को ही है। ईस्वी सन् के प्रारंभ के आसपास हस्तिनापुर, मथुरा अथवा किसी अन्य स्थान के प्राचीन पाँच जैन स्तूपों से सम्बन्धित होने के कारण मुनियों की यह शाखा पंचस्तूपान्वय कहलाई। 5वीं शती ई. में इसी स्तूपान्वय के एक प्रसिद्ध आचार्य गृहनन्दि ने वाराणसी से बंगाल देशस्थ पहाड़पुर की ओर विहार किया था जहाँ उनके शिष्य-प्रशिष्यों ने बटगोहाली का प्रसिद्ध संस्थान स्थापित किया था। 6ठी शती में इसी अन्वय के एक आचार्य वृषभनन्दि ने दक्षिणापथ में विहार किया। इन्हीं वृषभनन्दि की शिष्य-परम्परा में 7वीं शती के उत्तरार्ध में संभवतया श्रीसेन नाम के एक आचार्य हुए और संभवतया इन श्रीसेन के शिष्य चन्द्रसेनाचार्य थे जिन्होंने 8वीं शती ई. के प्रथम पाद के लगभग राष्ट्रकूटों के सम्भावित उत्कर्ष को लक्ष्य करके वाटनगर की बस्ती के बाहर स्थित चन्दोर पर्वतमाला की इन चाम्भार लेणों में उपर्युक्त ज्ञानपीठ की स्थापना की थी।

सम्पूर्ण नासिक्य क्षेत्र तीर्थंकर चन्द्रप्रभ से सम्बन्धित तीर्थक्षेत्र आणतेन्द्र निर्मित धवल भवन विद्यमान था। गजपन्था और मांगी-तुंगी के प्रसिद्ध प्राचीन जैन तीर्थ भी निकट थे, एलाउर या ऐलपुर (एलौरा) का शैव संस्थान और कन्हेरी का बौद्ध संस्थान भी दूर नहीं थे। राष्ट्रकूटों की प्रधान सैनिक छावनी भी कुछ हटकर उसी प्रदेश के मयूरखंडी नामक दुर्ग में थी और उनकी तत्कालीन राजधानी सूलुभंजन (सोरभंज) भी नातिदूर थी। इस प्रकार यह स्थान निर्जन और प्राकृतिक भी था, प्राचीन पवित्र परम्पराओं से युक्त था, राजधानी आदि के झमेले से दूर भी, किन्तु शान्ति और सुरक्षा की दृष्टि से उसके प्रभाव क्षेत्र में ही था। अच्छी बस्ती की निकटता से प्राप्त सुविधाओं का भी लाभ था और उसके शोरगुल से असम्पृक्त भी रह सकता था। एक महत्वपूर्ण ज्ञानकेन्द्र के लिए यह आदर्श स्थिति थी। चन्द्रसेनाचार्य के पश्चात् उनके प्रधान शिष्य आर्यनन्दि ने संस्थान को विकसित किया। संभवतया इन दोनों ही गुरु-शिष्यों की यह आकांक्षा

थी कि यह संस्थान एक विशाल ज्ञानकेन्द्र बने और इसमें षट्खंडागम आदि आगमग्रन्थों पर विशेषरूप से कार्य किया जाय। संयोग से आर्यनन्दि को वीरसेन के रूप में ऐसे प्रतिभासम्पन्न सुयोग्य शिष्य की प्राप्ति हुई जिसके द्वारा उन्हें अपनी चिरभिलाषा फलवती होती दीख पड़ी। वीरसेन, जो संभवतया स्वयं राजकुलोत्पन्न थे और यह संभावना है कि राजस्थान के सुप्रसिद्ध चित्तौड़गढ़ के मोरी (मौर्य) राज धवलप्पदेव के कनिष्ठ पुत्र थे, गुरु की अभिलाषा को पूर्ण करने के लिए सन्नद्ध हो गये। आचार्य वीरसेन ने इसी वाटनगर स्थित ज्ञानकेन्द्र में धवला टीका जैसे विशाल ग्रंथ एवं अन्य महत्त्वपूर्ण ग्रंथों की रचना की। यह ऊपर उल्लेख किया जा चुका है कि श्री वीरसेन स्वामी को संस्कृत एवं प्राकृत उभय भाषाओं पर पाण्डित्यपूर्ण पूरा अधिकार था। वे अपने समय के सर्वोपरि 'पुस्तकशिष्य' एवं आचार्य जिनसेन के शब्दों में 'कविचक्रवर्ती' थे।

इन्द्रमुनि के श्रुतावतार से ज्ञात होता है कि बप्पदेव द्वारा सिद्धान्त ग्रंथों की टीका लिखी जाने के उपरान्त एलाचार्य सिद्धान्त ग्रंथों के ज्ञाता हुए। गुरु की प्रेरणा से वीरसेन आगमों एवं सिद्धान्त ग्रंथों के विशिष्ट ज्ञानी एलाचार्य की सेवा में पहुंचे जो उस समय चित्रकूटपुर (उपर्युक्त चित्तौड़) में ही निवास करते थे। उनके सान्निध्य में रहकर उन्होंने कम्मपयडि पाहुड आदि आगमों एवं अन्य सिद्धान्त ग्रंथों का गहन अध्ययन किया। तदनन्तर वे गुरु की अनुज्ञा प्राप्तकर वाटग्राम वापिस आए और लगभग आठवीं शती ई. के मध्य गुरु के निधनोपरान्त संस्थान (ज्ञानकेन्द्र) का आचार्यत्व (कुलपतित्व) सम्भाला। वहां आनतेन्द्र द्वारा निर्मित जिनालय में उन्हें बप्पदेव की व्याख्याप्रज्ञप्ति टीका प्राप्त हुई। इस टीका के स्वाध्याय से आचार्य वीरसेन ने अनुभव किया कि सिद्धान्त के अनेक विषयों का निर्वचन छूट गया है तथा अनेक स्थलों पर विस्तृत सिद्धान्त स्फोटन सम्बन्धी व्याख्याएं भी अपेक्षित हैं। छठे खण्ड पर व्याख्या लिखी ही नहीं गई है। अत: एक नवीन विवृति लिखने की परमावश्यकता है। परिणामस्वरूप आचार्य वीरसेन ने व्याख्याप्रज्ञप्ति से प्रेरणा प्राप्तकर 'धवला' एवं 'जयधवला' नामक टीकाएं लिखीं।

इन आचार्यपुंगव ने जो विशाल साहित्य-सृजन किया उसमें षट्खंडागम के प्रथम पांच खण्डों पर निर्मित 'धवल' नाम की 72000 श्लोक परिमाण महती टीका, छठे खण्ड 'महाबन्ध' का 30000 श्लोक परिमाण सटिप्पण सम्पादन 'महाधवल' के रूप में, कसाय-प्राभृत की 'जयधवल' नाम्नी टीका का तृतीयांश जो लगभग 26500 श्लोक परिमाण है, सिद्धभूपद्धति नाम का गणित शास्त्र तथा दूसरी शती ई. के यतिवृषभाचार्यकृत तिलोयण्णत्ति ग्रंथ की किसी जीर्ण-शीर्ण प्राचीन प्रति पर से उद्धार करके उसका अन्तिम संस्करण तो है ही, अन्य कोई रचना हो उसका अभी पता नहीं चला। इसमें सन्देह नहीं कि उन्होंने अपने संस्थान में एक अत्यन्त समृद्ध ग्रन्थ भण्डार संग्रह किया होगा। लेखन के लिए टनों ताड़पत्र तथा अन्य लेखन-सामग्री की आवश्यकता-पूर्ति के लिए भी वहाँ इन वस्तुओं का एक अच्छा बड़ा कारखाना होगा। अपने कार्य में तथा संस्थान की अन्य गतिविधियों में योग देनेवाले उनके दर्जनों सहायक और सहयोगी भी होंगे। उनके सधर्मा के रूप में जयसेन का और प्रमुख शिष्यों के रूप में दशरथ गुरु, श्रीपाल, विनयसेन, पद्मसेन, देवसेन और जिनसेन के नाम तो प्राप्त होते ही हैं, अन्य समकालीन विद्वानों में उनके दीक्षागुरु आर्यनन्दि और विद्यागुरु एलाचार्य के अतिरिक्त दक्षिणापथ में गंगनरेश श्रीपुरुष

मुत्तरस शत्रु भयंकर (726-776 ई.) द्वारा समादृत तथा निर्गुन्डराज के राजनीतिक विद्यागुरु विमलचन्द्र, राष्ट्रकूट कृष्ण प्रथम की सभा में वाद-विजय करनेवाले परवादिमल्ल, अकलंकदेव के प्रथम टीकाकार अनन्तवीर्य प्रथम, तत्वार्थश्लोकवार्तिक, अष्टसहस्री आदि के कर्ता विद्यानन्दि, हरिवंशपुराणकार जिनसेनसूरि, रामायण आदि के रचयिता अपभ्रंश के महाकवि स्वयंभू आदि उल्लेखनीय हैं। चित्तौड़-निवासी श्वेताम्बराचार्य याकिनी-सूनु हरिभद्रसूरि भी इनके समकालीन थे। भट्टाकलङ्कदेव को अपनी बाल्यावस्था में स्वामी वीरसेन ने देखा-सुना हो सकता है, उनका स्मरण वीरसेन 'पूज्यपाद' नाम से करते थे। स्वामी वीरसेन ने अपनी धवला टीका की समाप्ति सन् 781 ई. (विक्रम सं. 838) में की थी और 793 ई. के लगभग उनका स्वर्गवास हो गया प्रतीत होता है। इसमें सन्देह नहीं है कि वाटनगर में ज्ञानकेन्द्र को स्वामी वीरसेन ने उन्नति के चरम शिखर पर पहुंचा दिया था।

उनके पश्चात् संस्थान का कार्यभार उनके प्रिय शिष्य जिनसेन स्वामी ने संभाला। यह अविद्धकर्ण बाल-तपस्वी भी अद्भुत प्रतिभासम्पन्न थे। पार्श्वाभ्युदय काव्य उनके काव्य-कौशल का उत्तम परिचायक है। सन् 837 ई. (शक सं. 759) में उन्होंने गुरु द्वारा अधूरे छोड़े कार्य – जयधवल के शेषांश को लगभग 40,000 श्लोक-परिमाण पूर्ण किया। इस महाग्रन्थ का सम्पादन उनके ज्येष्ठ सधर्मा श्रीपाल ने किया था। ऐसा लगता है कि तदनन्तर जिनसेन ने महापुराण की रचना प्रारम्भ की, किन्तु वह उसके आद्य 10,380 श्लोक की ही रचना कर पाए और उनमें प्रथम तीर्थंकर आदिनाथ का चरित्र भी पूरा न कर पाये कि 850 ई. के कुछ पूर्व ही उनका निधन हो गया।

राष्ट्रकूट सम्राट अमोघवर्ष प्रथम नृपतुंग (815-877 ई.) उन्हें अपना गुरु मानता था और यदा-कदा राज्य-कार्य से विराम लेकर उनके तपोवन में आकर उनके सान्निध्य में समय व्यतीत करता था। वह स्वयं भी अच्छा विद्वान और कवि था। स्वामी जिनसेन के समकालीन विद्वानों में उनके गुरु एवं सधर्माओं के अतिरिक्त हरिवंशपुराणकार जिनसेनसूरि, स्वामी विद्यानन्दि, अनन्तवीर्य द्वितीय, अर्ककीर्ति, विजयकीर्ति स्वयंभूपुत्र कवि त्रिभुवनस्वयंभू, शिवकोट्याचार्य, वैद्यकशास्त्र कल्याणकारक के रचयिता उग्रादित्य, गणितसारसंग्रह के कर्त्ता महावीराचार्य और वैयाकरणी शाकटायन पाल्यकीर्ति उल्लेखनीय हैं। इनमें से कम से कम अन्तिम तीन को भी सम्राट अमोघवर्ष का प्रश्रय प्राप्त हुआ था।

स्वामी जिनसेन के प्रधान शिष्य आचार्य गुणभद्र थे, जिन्होंने गुरु के अधूरे छोड़े आदिपुराण को संक्षेप में पूरा किया तथा उत्तरपुराण के रूप में अन्य 23 तीर्थंकरों का चरित्र निबद्ध किया। उन्होंने आत्मानुशासन और जिनदत्तचरित्र की भी रचना की। कहा जाता है कि सम्राट अमोघवर्ष ने अपने युवराज कृष्ण द्वितीय का गुरु उन्हें नियुक्त किया था। गुणभद्राचार्य का निधन कृष्ण द्वितीय के राज्यकाल (878-914 ई.) के प्रारंभ में ही, लगभग 880 ई. में हो गया लगता है। उनके समय तक इस परम्परा के गुरुओं का ही वाटग्राम के केन्द्र से सीधा एवं प्रधान सम्बन्ध रहा और वह पूर्ववत् फलता-फूलता रहा, किन्तु गुणभद्र के उपरान्त उसकी स्थिति गौण होती गई।

गुणभद्र के प्रधान शिष्य लोकसेन ने अमोघवर्ष के जैन सेनापति बंकेयरस के पुत्र लोकादित्य के प्रश्रय में उसकी राजधानी बंकापुर को अपना केन्द्र बना लिया प्रतीत होता है, जहां उसने 898 ई. में गुरु द्वारा रचित 'उत्तरपुराण' का ग्रन्थविमोचन समारोह किया था।

इस प्रकार अनेक न जाने कितने विद्वानों, जिनका नाम ऊपर लिया जा चुका है अथवा नहीं भी लिया गया, का वाटनगर के इस ज्ञानकेन्द्र (विद्यापीठ) से प्रत्यक्ष या परोक्ष सम्बन्ध रहा, कहा नहीं जा सकता। वह अपनी उपलब्धियों एवं सक्षमताओं के कारण निश्चय ही तत्कालीन विद्वानों का आकर्षण केन्द्र भी रहा होगा और प्रेरणा-स्रोत भी। राष्ट्रकूट युग के इस सर्वमहान् ज्ञानकेन्द्र एवं विद्यापीठ की स्मृति भी आज लुप्त हो गई है, किन्तु इसमें सन्देह नहीं है कि अपने समय में यह अपने समकालीन नालन्दा और विक्रमशिला के सुप्रसिद्ध बौद्ध विद्यापीठों को समर्थ चुनौती देता होगा। भारत के प्राचीन विश्वविद्यालयों में तक्षशिला, विक्रमशिला और नालन्दा की ही भांति यह वाटग्राम विश्वविद्यालय भी परिगणनीय है।

सहायक निबन्धक (आयुर्वेद)
भारतीय चिकित्सा केन्द्रीय परिषद्
म/ई स्वामी रामतीर्थ नगर
नई दिल्ली-110055

षट्खण्डागम और धवला में मार्गणास्थान की अवधारणा

- श्री राजवीरसिंह शेखावत

•

जैन दर्शन में मान्य जीव या आत्मा अनेक हैं, जो तत्त्वत: समान हैं, किन्तु कर्म-पुद्गल के संयोग से उनके गुणों अथवा शक्तियों के विकास में न्यूनाधिक्य पाया जाता है अर्थात् विकास की दृष्टि से उनमें भेद है। जीवों के इस विकास-क्रम में निम्न से उच्च की ओर एक निरन्तरता पाई जाती है अथवा विकास के अनेक सोपान हैं। जैन दार्शनिकों ने जीवों के इस विकास-क्रम को अथवा विकास के विभिन्न सोपानों को समझने, उनकी व्याख्या करने और सिद्धान्त-रूप देने के लिए 'गुणस्थान' की अवधारणा विकसित की। 'गुणस्थान' की अवधारणा को लेकर अनेक प्रश्न उठते हैं जिनमें एक मुख्य प्रश्न है - 'गुणस्थान' का अन्वेषण-स्थान अथवा हेतु क्या है ? इस प्रश्न के समाधान के लिए जैन दार्शनिकों ने एक अन्य अवधारणा विकसित की, जिसे जैन पारिभाषिक शब्दावली में 'मार्गणास्थान' कहा गया है।

प्रश्न उठता है कि 'मार्गणास्थान' से क्या तात्पर्य है ? इस प्रश्न का एक जवाब हमें धवला में, जो कि षट्खण्डागम की टीका है, मिलता है। धवला[1] में 'मार्गणास्थान' का अर्थ स्पष्ट किया गया है कि सत् अर्थात् अस्तित्व आदि से युक्त चौदह 'जीवसमास'[2] अर्थात् गुणस्थान जिसमें अथवा जिसके द्वारा खोजे जाते हैं उसे 'मार्गणास्थान' कहते हैं। ध्यान देने की बात यह है कि

गोम्मटसार-जीवकाण्ड[3] में – जिसमें अथवा जिसके द्वारा जीवों का अन्वेषण किया जाता है अर्थात् खोजे जाते हैं उसे 'मार्गणास्थान' कहा गया है। अतः यहाँ प्रश्न उठता है कि जिसमें अथवा जिसके द्वारा 'गुणस्थान' खोजे जाते हैं वह 'मार्गणास्थान' है या जिसमें अथवा जिसके द्वारा 'जीव' खोजे जाते हैं वह 'मार्गणास्थान' है ? यद्यपि गोम्मटसार-जीवकाण्ड में जीवों के अन्वेषण-स्थान या हेतु को 'मार्गणास्थान' कहा गया है और यह सम्भव हो सकता है कि यह अर्थ अधिक तर्कसंगत हो, किन्तु धवला में की गई मार्गणास्थान की चर्चा से यह स्पष्ट हो जाता है कि धवला में मार्गणास्थान से तात्पर्य गुणस्थानों के अन्वेषण-स्थान या हेतु से ही है। यहाँ हम मार्गणास्थान के अर्थ के विवाद में नहीं पड़कर धवला में वर्णित मार्गणास्थान के अर्थ को ही ले रहे हैं। अतः कहा जा सकता है कि जीव की वे पर्याय विशेष अथवा अवस्था विशेष जिनमें अथवा जिनके द्वारा आत्मा के गुणों के विकास की विभिन्न अवस्थाओं या विकास के विभिन्न सोपानों की गवेषणा की जाती है 'मार्गणास्थान' कहलाते हैं। वे मार्गणास्थान चौदह हैं – *गति, इन्द्रिय, काय, योग, वेद, कषाय, ज्ञान, संयम, दर्शन, लेश्या, भव्यत्व, सम्यक्त्व, संज्ञी और आहार*।[4] इसका तात्पर्य यह है कि गति में, इन्द्रिय में, काय में, योग में, वेद में, कषाय में, ज्ञान में, संयम में, दर्शन में, लेश्या में, भव्यत्व में, सम्यक्त्व में, संज्ञी में और आहार में गुणस्थानों का अर्थात् आत्मा के गुणों के विकास की विभिन्न अवस्थाओं का अन्वेषण किया जाता है धवलाकार के अनुसार मार्गणास्थान चौदह ही हैं, वे न तो न्यून हैं और न अधिक।[5]

अब प्रश्न उठता है कि गति आदि मार्गणास्थानों का स्वरूप क्या है ? गति और गतिमार्गणा के स्वरूप को स्पष्ट करते हुए धवला में कहा गया है कि जीव की वह अवस्था विशेष जो 'गति नामकर्म' के उदय से उत्पन्न होती है जिससे जीव का एक भव से दूसरे भव में परिणमन होता है, 'गति' कहलाती है।[6] अन्य शब्दों में – जीव का देव, मनुष्य आदि पर्यायों में रूपान्तरित हो जाना 'गति' कहलाता है और गति में गुणस्थानों का अन्वेषण करना 'गतिमार्गणा'। षट्खण्डागम में गति के पाँच भेद – नरकगति, तिर्यंचगति, मनुष्यगति, देवगति और सिद्धगति बतलाये गये हैं, किन्तु धवलाकार ने गति में गुणस्थानों के अन्वेषण की चर्चा करते हुए 'सिद्धगति' को नहीं लिया है; क्योंकि सम्भवतः सिद्धगति नामकर्म के उदय से उत्पन्न नहीं होती है और न ही वह गुणस्थानों का अन्वेषण स्थान अथवा हेतु है अर्थात् सिद्धगति कर्म और गुणस्थान से परे की अवस्था है। अतः गुणस्थानों के अन्वेषण के संदर्भ में गति के चार ही मुख्य भेद हैं। वे भेद हैं - नरकगति, तिर्यंचगति, मनुष्यगति और देवगति।

नरक नामकर्म से उत्पन्न होनेवाले जीवों को 'नारक' कहते हैं और उनकी गति को 'नरकगति'। प्रश्न उठता है कि नरकगति कौन-से गुणस्थानों का अन्वेषण-स्थान है अर्थात् नरकगति में कौन-से गुणस्थान पाये जाते हैं ? प्रत्युत्तर में कहा गया है कि नरकगति में प्रथम चार गुणस्थान (1-4) अर्थात् मिथ्यादृष्टि, सासादनसम्यग्दृष्टि, सम्यग्मिथ्यादृष्टि और असंयत सम्यग्दृष्टि गुणस्थान पाये जाते हैं।[8]

तिर्यंच नामकर्म के उदय से उत्पन्न हुए जीवों की गति को 'तिर्यंचगति' कहते हैं। तिर्यंचगति प्रथम पाँच गुणस्थानों का अन्वेषण-स्थान है अर्थात् तिर्यंचगति में प्रथम पाँच गुणस्थान (1-5) -

मिथ्यादृष्टि, सासादनसम्यग्दृष्टि, सम्यग्मिथ्यादृष्टि, असंयतसम्यग्दृष्टि और संयतासंयत गुणस्थान पाये जाते हैं।[9]

मनुष्य नामकर्म के उदय से उत्पन्न जीवों को मनुष्य कहते हैं अथवा जो मन से निपुण, उत्कट अर्थात् दूरदर्शन, सक्षम विचार आदि से युक्त हैं, हेय-उपादेय और गुण-दोष आदि का विचार करने में सक्षम हैं उन्हें 'मनुष्य' कहते हैं और उनकी गति को 'मनुष्य गति'।[10] मनुष्यगति सभी चौदह गुणस्थानों का अन्वेषण स्थान है।[11]

जो अणिमा आदि आठ ऋद्धियों से युक्त हैं उन जीवों को 'देव' कहते हैं अथवा देव नाम-कर्म के उदय से उत्पन्न हुए जीवों को 'देव' कहते हैं और उनकी गति को 'देवगति'।[12] देवगति मिथ्यादृष्टि, सासादनसम्यग्दृष्टि, सम्यग्मिथ्यादृष्टि और असंतसम्यग्दृष्टि, इन चार (1-4) गुणस्थानों का अन्वेषण स्थान है।[13] यहाँ प्रश्न उठता है कि यदि अणिमा आदि आठ ऋद्धियों से युक्त जीव देव है तब योगाभ्यास के द्वारा प्राप्त अणिमा आदि आठ ऋद्धियों से युक्त मनुष्य और देव में क्या अन्तर है ? दूसरे, मनुष्य पंचेन्द्रिय जीव है और देव भी पंचेन्द्रिय जीव है तब उन दोनों के इन्द्रिय ज्ञान और इन्द्रियों की संरचना में क्या भेद है ? इस प्रश्न का समाधान एक अन्य प्रश्न के समाधान पर कि 'इन्द्रियों' का स्वरूप क्या है, अपेक्षित है।

जो प्रत्यक्ष में व्यापार करती है उसे 'इन्द्रिय' कहते हैं अर्थात् जो नियमितरूप से अपने अर्थरूप विषय में व्यापार करती है अथवा ग्रहण करती है उसे 'इन्द्रिय' कहते हैं।[14] इन्द्रिय का एक अन्य लक्षण भी किया जा सकता है कि आत्मा की वह शक्ति विशेष जो संवेदनाओं को ग्रहण करती है 'इन्द्रिय' कहलाती है अर्थात् आत्मा की संवेदन-ग्राह्य-शक्ति 'इन्द्रिय' है। इन्द्रिय की संरचना के दो रूप हैं - द्रव्येन्द्रिय और भावेन्द्रिय।[15] कर्म के द्वारा निर्मित इन्द्रिय और उसके स्थूल रूप को 'द्रव्येन्द्रिय' कहते हैं तथा इन्द्रिय के आवरणरूप कर्मों के क्षय-उपशम और उसके फलस्वरूप होनेवाले चैतन्य परिणमन को 'भावेन्द्रिय' कहते हैं।[16]

इन्द्रिय के पाँच प्रकार हैं - स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु और श्रोत्र इन्द्रिय। इन्द्रिय के इन पाँच प्रकारों, उनके निमित्त, विषय और धारक को एक तालिका के द्वारा स्पष्ट किया जा सकता है, जो निम्नलिखित रूप में है -

इन्द्रिय	इन्द्रिय का निमित्त	इन्द्रिय का विषय	इन्द्रिय के धारक जीव
स्पर्शन	स्पर्शन इन्द्रिय के आवरण-कर्मों का क्षय-उपशम	स्पर्श	एक इन्द्रिय से पाँच इन्द्रिय जीव जैसे - पृथ्वीकायिक जल-कायिक शंख, कृमि, खटमल, जूँ, मक्खी, मच्छर, हंस, कबूतर, गाय, भैंस, देव, मनुष्य, नारकी आदि।
रसना	रसना इन्द्रिय के आवरण-कर्मों का क्षय-उपशम	रस	दो इन्द्रिय से पाँच इन्द्रिय जीव, जैसे - शंख, कृमि, खटमल, जूँ, मक्खी, मच्छर, हंस, कबूतर, गाय, भैंस, देव, मनुष्य, नारकी, आदि।

घ्राण	घ्राण इन्द्रिय के आवरण-कर्मों का क्षय-उपशम	गन्ध	तीन इन्द्रिय से पाँच इन्द्रिय जीव, जैसे - खटमल, जूँ, मक्खी, मच्छर, हंस, कबूतर, गाय, भैंस, देव, मनुष्य, नारकी आदि।
चक्षु	चक्षु इन्द्रिय के आवरण-कर्मों का क्षय-उपशम	रूप	चार इन्द्रिय से पाँच इन्द्रिय जीव, जैसे - मक्खी, मच्छर, कबूतर, हंस, गाय, भैंस, मनुष्य, देव, नारकी आदि।
श्रोत्र	श्रोत्र इन्द्रिय के आवरण-कर्मों का क्षय-उपशम	शब्द	पाँच इन्द्रिय जीव, जैसे - गाय, भैंस, कबूतर, हंस, मनुष्य, नारकी, देव आदि।

जिस इन्द्रिय से स्पर्श किया जाता है उसे 'स्पर्शन इन्द्रिय' कहते हैं अर्थात् जीव की स्पर्श-ग्राह्य शक्ति को 'स्पर्शन इन्द्रिय' कहते हैं। स्पर्शन द्वारा 'स्पर्श' का ज्ञान होता है अर्थात् स्पर्शन का विषय 'स्पर्श' है। ध्यान देने की बात है कि स्पर्श का ज्ञान सम्पूर्ण शरीर के किसी भी अंग के द्वारा अथवा किसी भी भाग या अंग में किया जा सकता है; क्योंकि स्पर्शन सर्वांग अर्थात् सम्पूर्ण शरीर में व्याप्त होती है[17] और सम्पूर्ण शरीर में व्याप्त होने के कारण अनेक आकारवाली है। स्पर्शन पंचेन्द्रिय तक के सभी जीवों के पाई जाती है। किन्तु कुछ जीव ऐसे भी हैं जिनके मात्र स्पर्शन इन्द्रिय पाई जाती है। ऐसे जीवों को एकेन्द्रिय जीव कहते हैं। पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और वनस्पतिकायिक, ये पाँच एकेन्द्रिय जीव हैं। विकास की दृष्टि से ये सबसे कम विकसित जीव हैं। इन जीवों से जो जीव कुछ अधिक विकसित होते हैं उनके दो इन्द्रियाँ पाई जाती हैं - स्पर्शन और रसना। जिस इन्द्रिय के द्वारा 'रस' का ग्रहण होता है उसे 'रसनेन्द्रिय' कहते हैं अर्थात् जीव की रस-ग्राह्य शक्ति को 'रसनेन्द्रिय' कहते हैं। रस इन्द्रिय द्वारा मात्र 'रस' का ही ज्ञान होता है। रसनेन्द्रिय दो इन्द्रिय से पाँच इन्द्रिय तक के जीवों के पाई जाती है। जिनके स्पर्शन और रसना, ये दो इन्द्रियाँ पाई जाती हैं उन्हें दो इन्द्रिय जीव कहते हैं, जैसे - शंख, शुक्ति, कृमि आदि। इन जीवों से अधिक विकसित जीवों के तीन इन्द्रियाँ पाई जाती हैं - स्पर्शन, रसना और घ्राण। जिस इन्द्रिय से 'गंध' का ज्ञान होता है उसे 'घ्राण-इन्द्रिय' कहते हैं। घ्राण इन्द्रिय तीन इन्द्रिय जीवों से पाँच इन्द्रिय तक के जीवों के पाई जाती है, एक इन्द्रिय और दो इन्द्रिय जीवों के नहीं पाई जाती। जिन जीवों के स्पर्शन, रसना और घ्राण इन्द्रियाँ पाई जाती हैं उन्हें तीन इन्द्रिय जीव कहते हैं। पिपीलिका, खटमल, बिच्छू, आदि ये तीन इन्द्रिय जीव हैं। जिन जीवों के चार इन्द्रियाँ - स्पर्शन, रसना, घ्राण और चक्षु होती हैं उन्हें चार इन्द्रिय जीव कहते हैं। जिस इन्द्रिय के द्वारा देखा जाता है उसे 'चक्षु इन्द्रिय' कहते हैं, अथवा जिसके द्वारा 'रूप' का ज्ञान होता है उसे 'चक्षु इन्द्रिय' कहते हैं। चक्षु इन्द्रिय चार इन्द्रिय और पाँच इन्द्रिय जीवों के होती है, अन्य जीवों के नहीं। उपर्युक्त चारों इन्द्रियों में अथवा एक इन्द्रिय से चार इन्द्रिय तक जीवों के 'मिथ्यादृष्टि गुणस्थान' होता है अर्थात् स्पर्शन, रसना, घ्राण और चक्षु इन्द्रिय-मार्गणा 'मिथ्यादृष्टि गुणस्थान' का अन्वेषण-स्थान है।[18] जिन जीवों के उपर्युक्त चार इन्द्रियों सहित श्रोत्र इन्द्रिय होती हैं उन्हें

'पाँच इन्द्रिय' जीव कहते हैं। जिसके द्वारा शब्द का ज्ञान हो उसे 'श्रोत्र इन्द्रिय' कहते हैं। श्रोत्र इन्द्रिय केवल पाँच इन्द्रिय जीवों के ही होती है, अन्य जीवों के नहीं होती। मनुष्य, देव, नारकी, गाय, भैंस, कबूतर, मयूर आदि जीव पाँच इन्द्रिय जीव हैं। पाँच इन्द्रिय जीवों में अथवा श्रोत्र इन्द्रिय में मिथ्यादृष्टि से लेकर अयोगिकेवली तक के गुणस्थान होते हैं अर्थात् पाँच इन्द्रिय जीव या श्रोत्र इन्द्रिय मार्गणास्थान सभी गुणस्थानों का अन्वेषण स्थान है।[19] ध्यान देने की बात है कि जो पाँच इन्द्रिय जीव मनरहित हैं उनके मिथ्यादृष्टि गुणस्थान होता है और जो मनसहित अर्थात् मन युक्त हैं उनके सभी चौदह गुणस्थान होते हैं।

ऊपर यह स्पष्ट किया है कि स्पर्शन इन्द्रिय सम्पूर्ण काय या शरीर में व्याप्त रहती है और अन्य इन्द्रियाँ विशिष्ट अंगों में। इसका तात्पर्य यह है कि काय का ऐसा कोई भाग अथवा अंग नहीं है जो इन्द्रिय-रहित है अर्थात् सम्पूर्ण काय इन्द्रियों से व्याप्त है। यहाँ प्रश्न उठता है कि काय और इन्द्रियाँ दो भिन्न प्रकार की सत्ताएँ हैं या एक ही प्रकार की सत्ता है ? क्या इन्द्रियों का समूह ही काय है या काय इन्द्रियों से भिन्न है ? यदि इन्द्रियों का समूह ही काय है तब उन्हें दो कहने का क्या अर्थ है और यदि दोनों भिन्न हैं तब काय और इन्द्रिय में क्या भेद है ? आदि। इन प्रश्नों के समाधान के लिए काय की अवधारणा का स्पष्टीकरण आवश्यक है।

धवला में 'काय' के अर्थ को स्पष्ट करते हुए कहा गया है कि पृथ्वी आदि कर्मों के उदय से जो संचित किया जाता है उसे 'काय' कहते हैं।[20] तात्पर्य यह है कि जीव के भौतिक देह के निमित्त कर्मों के उदय से कुछ विशिष्ट पुद्गल कणों का विशिष्ट प्रकार से आत्मा के साथ संयोग या संचय होता है उन विशिष्ट प्रकार से संचित विशिष्ट पुद्गल कणों के पिण्ड को 'काय' कहते हैं और काय में गुणस्थानों के अन्वेषण को 'कायमार्गणा'। काय का एक अन्य लक्षण किया गया है कि 'योग' से संचित हुए पुद्गल-पिण्डों को 'काय' कहते हैं।[21] यहाँ प्रश्न उठता है कि 'योग' से क्या तात्पर्य है ? इस प्रश्न पर आगे विचार करेंगे, अतः इसे यहाँ छोड़ा जा रहा है।

काय के छः प्रकार हैं - पृथ्वीकाय, जलकाय, अग्निकाय, वायुकाय, वनस्पतिकाय और त्रसकाय।[22] पृथ्वीकायिक जीवों के काय को 'पृथ्वीकाय' कहते हैं, अथवा पृथ्वी नामकर्म के उदय से संचित किया गया काय 'पृथ्वीकाय' कहलाता है। पृथ्वीकाय के अनेक भेद हैं, जैसे - शर्करा, बालुका, पत्थर, नमक, लोहा, ताँबा, सोना, मूंगा, स्फटिकमणि, नीलमणि, पुखराज आदि। जल नामकर्म के उदय से संचित किया गया काय 'जलकाय' कहलाता है। जलकाय के अनेक प्रकार हैं, जैसे - ओस, बर्फ, कुहरा, झरना, समुद्र, मेघ का जल आदि। अग्नि नामकर्म के उदय से संचित काय को 'अग्निकाय' कहते हैं अथवा अग्निकायिक जीवों के काय को 'अग्निकाय' कहते हैं। अंगार, ज्वाला, अग्निकिरण, बिजली आदि अग्निकाय के अनेक प्रकार हैं। जिस काय की उत्पत्ति में या संचय में वायु नामकर्म का उदय निमित्त हो उसे 'वायुकाय' कहते हैं। उद्भ्राम, चक्रवात, उत्कलि, गुंजायमान, घनवात, तनुवात आदि काय वायुकाय के भेद हैं। वनस्पति कर्म के उदय से संचित काय को अर्थात् जिस काय के संचय में वनस्पति कर्म का उदय निमित्त हो उसे 'वनस्पतिकाय' कहते हैं। मूलबीज, अग्रबीज, पर्वबीज, कन्दबीज आदि वनस्पतिकाय के भेद हैं।

उपर्युक्त पाँच काय स्थावर काय हैं; क्योंकि उनकी उत्पत्ति में स्थावर नामकर्म का उदय निमित्त होता है अथवा उनमें स्थावर नामकर्म के उदय से उत्पन्न हुई विशेषताएँ पाई जाती हैं। इन पाँच स्थावर कायों में 'मिथ्यादृष्टि' गुणस्थान पाया जाता है अर्थात् पाँच स्थावर काय मिथ्यादृष्टि गुणस्थान का अन्वेषण-स्थान है।[23]

त्रस नामकर्म के उदय से संचित काय को 'त्रसकाय' कहते हैं अर्थात् जिस काय के संचय में त्रसकाय नामकर्म का उदय निमित्त हो उसे 'त्रसकाय' कहते हैं अथवा त्रस जीवों के काय को 'त्रसकाय' कहते हैं। दो इन्द्रिय से पाँच इन्द्रिय तक के जीवों के काय त्रसकाय के भेद हैं। त्रसकाय मिथ्यादृष्टि से अयोगिकेवली गुणस्थान तक के गुणस्थानों का अन्वेषण-स्थान है अर्थात् त्रसकाय में सभी चौदह गुणस्थान पाये जाते हैं।[24]

ऊपर काय के अर्थ को स्पष्ट करते हुए प्रश्न उठाया गया कि 'योग' से क्या तात्पर्य है ? इस प्रश्न के जवाब में कहा गया है कि आत्म-प्रदेशों के परिस्पन्द को अर्थात् आत्म-प्रदेशों के संकोच और विस्तार को 'योग' कहते हैं।[25] योग के तीन मुख्य भेद हैं - मनोयोग, वचनयोग और काययोग। 'भावमन' की उत्पत्ति के लिए आत्म-प्रदेशों में जो परिस्पन्द होता है उसे 'मनोयोग' कहते हैं।[26] मनोयोग चार प्रकार का है - सत्यमनोयोग, असत्यमनोयोग, सत्यअसत्य मनोयोग और अ-सत्यअसत्य मनोयोग। 'सत्यमन' के निमित्त से होनेवाले आत्म-प्रदेशों के परिस्पन्द को 'सत्यमनोयोग' कहते हैं। 'सत्यमन' से तात्पर्य है जहाँ जिस प्रकार की वस्तु विद्यमान है वहाँ उसी प्रकार से प्रवृत्ति करनेवाला 'मन', और इसके विपरीत मन 'असत्यमन'। असत्यमन के द्वारा होनेवाले आत्म-प्रदेशों के परिस्पन्द को 'असत्यमनोयोग' कहते हैं। सत्य तथा असत्य इन दोनों मनो के संयोग से उत्पन्न होनेवाले आत्म-प्रदेशों के परिस्पन्द को 'सत्यअसत्यमनोयोग' और अनुभयमन के निमित्त से होनेवाले आत्म-प्रदेशों के परिस्पन्द को 'अ-सत्यअसत्यमनोयोग' कहते हैं।[27] इन चार मनोयोगों में से 'सत्यमनोयोग' और 'अ-सत्यअसत्यमनोयोग' मिथ्यादृष्टि से सयोगिकेवली तक के गुणस्थानों के अन्वेषणस्थान हैं और 'असत्यमनोयोग' तथा 'सत्यअसत्यमनोयोग' मिथ्यादृष्टि से क्षीणकषाय-वीतराग-छद्मस्थ तक के गुणस्थानों के अन्वेषण-स्थान हैं।[28]

वचन की उत्पत्ति के लिए होनेवाले आत्म-प्रदेशों के परिस्पन्द को 'वचनयोग' कहते हैं। वचनयोग के चार प्रकार हैं - सत्यवचनयोग, असत्यवचनयोग, सत्यअसत्यवचनयोग और अ-सत्यअसत्यवचनयोग। जिस वचनयोग में 'सत्यमन' निमित्त हो उसे 'सत्यवचनयोग' कहते हैं, जिसमें असत्यमन निमित्त हो उसे 'असत्यवचनयोग', जिसमें उभयमन निमित्त हो उसे 'सत्यअसत्यवचनयोग' और जिसमें अनुभयमन निमित्त हो उसे 'अ-सत्यअसत्यवचनयोग' कहते हैं। सत्य तथा अ-सत्यअसत्य वचनयोग प्रथम तेरह गुणस्थानों के अन्वेषण स्थान हैं और अन्य दो वचनयोग प्रथम बारह गुणस्थानों के अन्वेषण-स्थान।[29]

काय की क्रिया की उत्पत्ति के लिए जो प्रयत्न विशेष होता है उसे 'काययोग' कहते हैं। काययोग सात प्रकार का है - औदारिक, औदारिकमिश्र, वैक्रियिक, वैक्रियिक मिश्र, आहारक, आहारक मिश्र और कार्मण काययोग। औदारिक शरीर के निमित्त से होनेवाले आत्मप्रदेशों के

परिस्पन्द को 'औदारिक काययोग' कहते हैं और अपूर्ण औदारिक शरीर के निमित्त से होनेवाले योग को 'औदारिकमिश्र काययोग' कहते हैं। वैक्रियिक शरीर के निमित्त से होनेवाले योग को 'वैक्रियिक काययोग' कहते हैं और अपूर्ण वैक्रियिक शरीर के निमित्त से होनेवाले योग को 'वैक्रियिकमिश्र काययोग' कहते हैं। आहारक शरीर के निमित्त से होनेवाले योग को 'आहारक काययोग' कहते हैं और अपूर्ण आहारक शरीर के निमित्त से होनेवाले योग को 'आहारकमिश्र काययोग'। कार्मण शरीर के निमित्त से होनेवाले योग को 'कार्मण काययोग' कहते हैं। इन सात काययोगों में से औदारिक और औदारिकमिश्र काययोग में प्रथम तेरह गुणस्थान होते हैं, वैक्रियिक तथा वैक्रियिकमिश्र काययोग में प्रथम चार गुणस्थान, आहारक और आहारकमिश्र में एक प्रमत्तसंयत गुणस्थान और कार्मण काययोग में प्रथम तेरह गुणस्थान होते हैं।[30]

उपर्युक्त तीनों योग जीव की समस्त क्रियाओं के, शारीरिक अथवा मानसिक क्रियाओं के आधार हैं। वचनयोग और काययोग शारीरिक क्रियाओं के आधार हैं तथा मन और मनोयोग मानसिक क्रियाओं के अर्थात् मानसिक भावों के। मानसिक भाव अनेक प्रकार के होते हैं, जिनमें से कुछ भाव लिंग के अनुसार काम अथवा मैथुन रूप होते हैं। उन काम अथवा मैथुन रूप भावों को 'वेद' कहा गया है। धवला में वेद का लक्षण किया गया है कि आत्म-प्रवृत्ति में मैथुनरूप चित्तविक्षे का उत्पन्न होना 'वेद' है,[31] अथवा वेद नाम नोकषाय कर्म के उदय से उत्पन्न होने-वाले भाव को 'वेद' कहते हैं। यहाँ प्रश्न उठता है कि 'कषाय' और 'नोकषाय' से क्या तात्पर्य है ? इस प्रश्न पर आगे विचार करेंगे।

वेद तीन प्रकार का है - स्त्रीवेद, पुरुषवेद और नपुंसकवेद। जो अपने को स्त्रीरूप अनुभव करे तथा पुरुष के साथ मैथुन सेवन की अभिलाषा करे उसे 'स्त्रीवेद' कहते हैं। जो अपने को पुरुषरूप अनुभव करे तथा स्त्री-विषयक अभिलाषा करे उसे 'पुरुषवेद' कहते हैं और जिसके स्त्री तथा पुरुष-विषयक दोनों प्रकार के मैथुन की अभिलाषा पाई जाये उसे 'नपुंसकवेद' कहते हैं।[32] ये तीनों वेद मिथ्यादृष्टि से अनिवृत्तिकरण तक के गुणस्थानों के अन्वेषण-स्थान हैं।[33]

ऊपर वेद के लक्षण में आये 'नोकषाय' शब्द को लेकर प्रश्न उठाया कि 'कषाय' से क्या तात्पर्य है ? इस प्रश्न के जवाब में कहा गया है कि जो सुख-दु:ख को उत्पन्न करनेवाले कर्मरूपी क्षेत्र को फल उत्पन्न करने के योग्य बनाये, उसे 'कषाय' कहते हैं।[34] कषाय के चार प्रकार हैं - क्रोध, मान, माया और लोभ। सुख-दु:ख को उत्पन्न करनेवाले कर्मरूपी क्षेत्र को जब क्रोध फल उत्पन्न करने के योग्य बनाता है उसे 'क्रोधकषाय' कहते हैं; जब मान फल उत्पन्न करने के योग्य बनाता है उसे 'मानकषाय' कहते हैं, जब माया फल उत्पन्न करने के योग्य बनाती है उसे 'मायाकषाय' कहते हैं और जब लोभ फल उत्पन्न करने के योग्य बनाता है उसे 'लोभकषाय'। इन कषायों में जब गुणस्थान का अन्वेषण किया जाता है तब उन्हें 'कषाय मार्गणा' कहते हैं। इन चार कषायों में से प्रथम तीन कषायों में मिथ्यादृष्टि से अनिवृत्तिकरण तक के गुणस्थान होते हैं और लोभ कषाय में मिथ्यादृष्टि से सूक्ष्मसांपरायशुद्धिसंयत तक के गुणस्थान।[35]

पीछे 'योग' की चर्चा की गई है; उस 'योग' और 'कषाय' की मिली-जुली एक अन्य अवस्था उत्पन्न होती है जिससे आत्मा का बन्धन होता है। योग और कषाय की उस मिली-

जुली अवस्था को 'लेश्या' कहा गया है। धवला में लेश्या का अर्थ स्पष्ट किया गया है कि जो आत्मा को कर्मों से लिप्त करती है उसको 'लेश्या' कहते हैं अथवा जो आत्मा और कर्म का सम्बन्ध करनेवाली है उसे 'लेश्या' कहते हैं।

लेश्या के छः प्रकार हैं - कृष्णलेश्या, नीललेश्या, कापोतलेश्या, पीतलेश्या, पद्मलेश्या और शुक्ललेश्या। जो लेश्या तीव्र क्रोध, वैर, अधर्म, दुष्ट आदिरूप हो उसे 'कृष्णलेश्या' कहते हैं। जो अतिनिद्रा, धन-धान्य की तीव्र लालसा आदिरूप हो उसे 'नीललेश्या' कहते हैं। दूसरों के ऊपर क्रोध करने, निन्दा करने, दुःख देने, दोष लगाने आदिरूप लेश्या को 'कापोतलेश्या'; कार्य-अकार्य, सेव्य-असेव्य को जानने, समदर्शी, दया, दान आदिरूप लेश्या को 'पीतलेश्या'; त्याग, निर्मल, क्षमा, साधुजनों की पूजा आदिरूप लेश्या को 'पद्मलेश्या' और राग-द्वेष रहित रूप लेश्या को 'शुक्ललेश्या' कहते हैं। इन छः लेश्याओं में से कृष्णलेश्या, नीललेश्या और कापोतलेश्या मिथ्यादृष्टि से असंयतदृष्टि तक के गुणस्थानों के अन्वेषण स्थान हैं और पीतलेश्या तथा पद्मलेश्या मिथ्यादृष्टि से अप्रमत्तसंयत तक के गुणस्थानों के अन्वेषण-स्थान हैं तथा शुक्ललेश्या मिथ्यादृष्टि से सयोगिकेवली तक के गुणस्थानों के अन्वेषण-स्थान हैं।

लेश्या और कषाय जीव के बन्धन के कारण है, क्योंकि ये कर्म-पुद्गल को जीव की ओर आकृष्ट करते हैं जिससे जीव और कर्म-पुद्गल का संयोग हो जाता है। जीव का पुद्गल से संयोग होने पर उसके शुद्ध स्वरूप अथवा गुणों में न्यूनता आ जाती है अर्थात् जीव के अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त सुख और अनन्त शक्ति में न्यूनता आ जाती है। किस जीव के ज्ञान आदि में कितनी न्यूनता आती है - यह इस बात पर निर्भर करता है कि उस जीव का किस प्रकार के तथा कितने कर्म-पुद्गलों से संयोग हुआ है। जिस जीव के साथ 'ज्ञान आवरण कर्म-पुद्गल' अधिक संयुक्त है उसके ज्ञान में न्यूनता अधिक होती है और जिसके साथ कम संयुक्त होते हैं उसके ज्ञान में न्यूनता कम होती है। जिस जीव के साथ 'दर्शन आवरण कर्म-पुद्गल' अधिक संयुक्त होते हैं उसके दर्शन में न्यूनता अधिक होती है और जिसके साथ कम संयुक्त है उसके दर्शन में न्यूनता कम होती है। प्रश्न उठता है कि 'ज्ञान' आदि से क्या तात्पर्य है ? यहाँ ज्ञान से तात्पर्य है जिसके द्वारा अर्थ को जाना जाता है अथवा जो अर्थ को प्रकाशित करता है उसे ज्ञान कहते हैं। ज्ञान दो प्रकार का है - प्रत्यक्ष और परोक्ष। परोक्ष के दो प्रकार हैं - मतिज्ञान और श्रुतज्ञान तथा प्रत्यक्ष के तीन प्रकार हैं - अवधिज्ञान, मनःपर्ययज्ञान और केवलज्ञान। इस प्रकार ज्ञान के कुल पाँच प्रकार हैं।

पाँच इन्द्रियों और मन की सहायता से जो ज्ञान होता है उसे 'मतिज्ञान' कहते हैं। मतिज्ञान के चार प्रकार हैं - अवग्रह, ईहा, अवाय और धारणा। शब्द और धूम आदि लिंग के द्वारा जो एक पदार्थ से दूसरे पदार्थ का ज्ञान होता है उसे 'श्रुतज्ञान' कहते हैं।[36] शब्द के निमित्त से उत्पन्न होनेवाला श्रुतज्ञान दो प्रकार का है - अंग और अंगबाह्य। समस्त मूर्त पदार्थों को प्रत्यक्ष रूप से जाननेवाले ज्ञान को 'अवधिज्ञान' कहते हैं। मन का आश्रय लेकर मनोगत भावों का साक्षात्कार करनेवाले ज्ञान को मनःपर्ययज्ञान कहते हैं और तीनों कालों के समस्त पदार्थों को साक्षातरूप से जाननेवाले ज्ञान को मनः पर्ययज्ञान कहते हैं और तीनों कालों के समस्त पदार्थों को साक्षातरूप से जाननेवाले ज्ञान को 'केवलज्ञान' कहते हैं।

ये सभी ज्ञान गुणस्थानों के गवेषण-स्थान हैं। अतः इन्हें 'ज्ञानमार्गणास्थान' कहा जाता है। इन पाँच ज्ञानों में से मतिज्ञान, श्रुतज्ञान और अवधिज्ञान में असंयतसम्यग्दृष्टि से क्षीणकषाय-वीतराग-छद्मस्थ तक के गुणस्थान होते हैं। मनःपर्ययज्ञान में अप्रमत्तसंयत से क्षीणकषाय-वीतराग-छद्मस्थ तक के गुणस्थान होते हैं और केवलज्ञान में सयोगिकेवली तथा अयोगिकेवली गुणस्थान।[37]

जिसके द्वारा देखा जाय अर्थात् अवलोकन किया जाय उसे 'दर्शन' कहते हैं, अथवा सामान्य-विशेषात्मक पदार्थ के विशेष अंश को ग्रहण नहीं करके केवल सामान्य के अर्थात् स्वरूपमात्र के ग्रहण करने को 'दर्शन' कहते हैं। दर्शन के चार प्रकार हैं - चक्षुदर्शन, अवधिदर्शन, अचक्षुदर्शन और केवलदर्शन। चक्षु के द्वारा सामान्य के ग्रहण करने को 'चक्षुदर्शन' कहते हैं और चक्षु के अतिरिक्त इन्द्रियों और मन के द्वारा जो प्रतिभास होता है उसे 'अचक्षुदर्शन'। समस्त मूर्त पदार्थों को प्रत्यक्षरूप से देखने को 'अवधिदर्शन' कहते हैं और समस्त पदार्थों के दर्शन को 'केवलदर्शन'। इन दर्शनों में गुणस्थानों के अन्वेषण को 'दर्शनमार्गणा' कहते हैं। चक्षुदर्शन और अचक्षुदर्शन प्रथम बारह गुणस्थानों के अन्वेषण-स्थान हैं। अवधिदर्शन असंयत सम्यग्दृष्टि से क्षीणकषाय-वीतराग-छद्मस्थ तक के गुणस्थानों का अन्वेषण-स्थान है और केवलदर्शन सयोगिकेवली तथा अयोगिकेवली गुणस्थानों का अन्वेषण-स्थान है।[38]

ध्यान देने की बात है कि ऊपर जीव के अनन्त चतुष्ट्य में से ज्ञान और दर्शन की चर्चा की गई है, सुख और शक्ति की चर्चा नहीं की गई; क्योंकि ज्ञान और दर्शन को ही मार्गणास्थान कहा गया है, सुख और शक्ति को नहीं। और यहाँ मार्गणास्थान की ही चर्चा की जा रही है। दूसरे, ऊपर यह कहा गया है कि जीव का कर्म-पुद्गल के साथ संयोग होने से ज्ञान आदि में न्यूनता आ जाती है। किन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि वह न्यूनता सदैव बनी रहती है। शक्ति, ज्ञान आदि की अनन्तता को 'संयम' तथा 'सम्यक्त्व' के द्वारा पुनः प्राप्त किया जा सकता है।

प्रश्न उठता है कि 'संयम' से क्या तात्पर्य है ? प्रत्युत्तर में कहा गया है कि पाँच व्रतों का धारण करना; पाँच समितियों का पालन करना; चार कषायों का निग्रह करना; मन, वचन और काय रूप तीन दण्डों का त्याग करना और पाँच इन्द्रियों के विषयों को जीतना 'संयम' है।[39] अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह, ये पाँच व्रत हैं। ईर्या, भाषा, एषणा, आदान-निक्षेप और उत्सर्ग, ये पाँच समितियाँ हैं। क्रोध, मान, माया और लोभ, ये चार कषाय हैं। स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु और श्रोत्र, ये पाँच इन्द्रियाँ हैं।

'संयम' के पाँच प्रकार हैं - सामायिकशुद्धिसंयम, छेदोपस्थापनाशुद्धिसंयम, परिहार-शुद्धिसंयम, सूक्ष्मसांपरायशुद्धिसंयम और यथाख्यातविहारशुद्धिसंयम। संयम के सभी रूपों को एक-साथ अभेदरूप से धारण करने को 'सामायिकशुद्धिसंयम' कहते हैं और उनको भेदरूप से अर्थात् अलग-अलग धारण करने को 'छेदोपस्थापनाशुद्धिसंयम'। मुख्य रूप से अहिंसा व्रत को धारणा करना 'परिहारशुद्धिसंयम' कहलाता है अर्थात् सभी व्यापारों में प्राणियों की हिंसा का

त्याग 'परिहारशुद्धिसंयम' कहलाता है। सूक्ष्मकषाययुक्त संयम को 'सूक्ष्मसांपरायशुद्धिसंयम' कहते हैं और सभी कषायों के अभावरूप संयम को 'यथाख्यातविहारशुद्धिसंयम'।

ये सभी संयम गुणस्थानों के अन्वेषण-स्थान हैं। इनमें से सामायिक शुद्धिसंयम और छेदोपस्थापनाशुद्धि संयम प्रमत्तसंयत से लेकर अनिवृत्तिकरण तक के गुणस्थानों के अन्वेषण-स्थान हैं। परिहारशुद्धि संयम प्रमत्तसंयत और अप्रमत्तसयंत इन दो गुणस्थानों का, सूक्ष्मसांपरायशुद्धि संयम केवल एक गुणस्थान सूक्ष्मसांपरायशुद्धि गुणस्थान का और यथाख्यातविहारशुद्धि संयम उपशान्त-कषाय-वीतराग-छद्मस्थ, क्षीणकषाय-वीतराग-छद्मस्थ, सयोगिकेवली और अयोगिकेवली - इन चार गुणस्थानों का अन्वेषण-स्थान है।[40]

ज्ञान, शक्ति आदि की अनन्तता को प्राप्त करने के लिए संयम के साथ 'सम्यक्त्व' का होना आवश्यक है। यदि संयम है और सम्यक्त्व नहीं है तब ज्ञान, शक्ति आदि की अनन्तता को प्राप्त करना असम्भव है। प्रश्न उठता है कि 'सम्यक्त्व' से क्या तात्पर्य है ? प्रत्युत्तर में कहा गया है कि तत्त्वार्थ के श्रद्धान को 'सम्यक्त्व' कहते हैं तथा आप्त, आगम और पदार्थ को 'तत्त्वार्थ'।[41] सम्यक्त्व के पाँच प्रकार हैं - क्षायिकसम्यक्त्व, वेदकसम्यक्त्व उपशमसम्यक्त्व, सासादनसम्यक्त्व और सम्यग्मिथ्यासम्यक्त्व। समस्त दर्शन मोहनीय कर्मों के क्षय हो जाने पर होनेवाले श्रद्धान को 'क्षायिकसम्यक्त्व' कहते हैं, उनके उदय से होनेवाले चल, मलिन एवं अगाढ़रूप श्रद्धान को 'वेदकसम्यक्त्व और उसके उपशम से होनेवाले श्रद्धान को 'उपशमसम्यक्त्व' कहते हैं। जो सम्यक्त्व गिरकर मिथ्यात्व को प्राप्त नहीं होता है उसे 'सासादनसम्यक्त्व' कहते हैं और तत्त्वार्थ में श्रद्धान तथा अश्रद्धान दोनों-रूप सम्यक्त्व को 'सम्यग्मिथ्यासम्यक्त्व' कहते हैं। इन सम्यक्त्वों में गुणस्थानों की गवेषणा को 'सम्यक्त्व मार्गणास्थान' कहते हैं। इनमें से क्षायिकसम्यक्त्व में असंयतसम्यग्दृष्टि से अयोगिकेवली तक के गुणस्थानों का अन्वेषण किया जाता है अर्थात् क्षायिकसम्यक्त्व में असंयतसम्यग्दृष्टि से अयोगिकेवली तक के गुणस्थान होते हैं। वेदकसम्यक्त्व में असंयतसम्यग्दृष्टि से अप्रमत्तसंयत तक के गुणस्थान; उपशमसम्यक्त्व में असंयतसम्यग्दृष्टि से उपशान्त-कषाय-वीतराग-छद्मस्थ तक के गुणस्थान, सासादनसम्यक्त्व में सासादनसम्यग्दृष्टि गुणस्थान और सम्यग्मिथ्या सम्यक्त्व में सम्यग्मिथ्यादृष्टि गुणस्थान होता है।[42]

ध्यान देने की बात है कि संयम और सम्यक्त्व के द्वारा सभी जीव अनन्तचतुष्ट्य को प्राप्त नहीं कर सकते, कुछ जीव ही ज्ञान आदि की अनन्तता को प्राप्त कर सकते हैं अर्थात् जो भव्य जीव हैं वे ही संयम और सम्यक्त्व के द्वारा ज्ञान, शक्ति आदि की अनन्तता को प्राप्त कर सकते हैं, किन्तु जो अभव्य जीव हैं वे ज्ञान आदि की अनन्तता को प्राप्त नहीं कर सकते; क्योंकि वे संयम और सम्यक्त्व को धारण करने में असमर्थ हैं। यहाँ 'भव्य' और 'अभव्य' से तात्पर्य है जो जीव अपने शुद्ध स्वरूप को प्राप्त करने के योग्य हैं अर्थात् जो समस्त कर्मों से रहित अवस्था को प्राप्त करने के योग्य हैं उन्हें 'भव्य' कहते हैं और जो अपने शुद्ध स्वरूप को प्राप्त करने में समर्थ नहीं हैं उन्हें 'अभव्य'।[43] भव्य और अभव्य में गुणस्थानों के अन्वेषण को 'भव्यमार्गणास्थान' कहते हैं। भव्य जीव मिथ्यादृष्टि से अयोगिकेवली तक के गुणस्थानों का अन्वेषण-स्थान है और अभव्य जीव मिथ्यादृष्टि गुणस्थान का अन्वेषण-स्थान।[44]

भव्य जीवों में कुछ जीव 'संज्ञी' होते हैं और कुछ जीव 'असंज्ञी'। जो मन के अवलम्बन से शिक्षा, क्रिया, उपदेश और आलाप ग्रहण करता है उसे 'संज्ञी' कहते हैं और जो इन शिक्षा आदि को ग्रहण नहीं करता उसे 'असंज्ञी'।[45] संज्ञी जीवों के मिथ्यादृष्टि से क्षीणकषाय-वीतराग-छद्मस्थ तक के गुणस्थान होते हैं और असंज्ञी जीवों के मिथ्यादृष्टि गुणस्थान।[46]

संज्ञी-असंज्ञी अथवा भव्य-अभव्य जीवों के औदारिक, वैक्रियिक, आहारक और कार्मण, ये चार प्रकार के शरीर होते हैं। इन चार प्रकार के शरीरों में से प्रथम तीन शरीरों की पृष्टि के लिए जीव उन शरीरों के योग्य पुद्गल पिण्डों का ग्रहण करते रहते हैं। जीवों द्वारा उन शरीरों के योग्य अर्थात् औदारिक, वैक्रियिक और आहारक शरीर के योग्य पुद्गल पिण्डों के ग्रहण को 'आहार' कहते हैं।[47] आहार ग्रहण करनेवाले जीवों को 'आहारक' कहते हैं और आहार नहीं ग्रहण करनेवाले जीवों को 'अनाहारक' अर्थात् जो जीव औदारिक आदि शरीर के योग्य पुद्गल पिण्डों को ग्रहण करते हैं उन्हें 'आहारक' कहते हैं और जो पुद्गल पिण्डों को ग्रहण नहीं करते हैं उन्हें 'अनाहारक'। आहारक जीवों के प्रथम तेरह गुणस्थान होते हैं अर्थात् आहारक मिथ्यादृष्टि से सयोगिकेवली तक के गुणस्थानों के अन्वेषण-स्थान हैं और अनाहारक, सिद्धों के अतिरिक्त, मिथ्यादृष्टि, सासादन, अविरतसम्यग्दृष्टि, सयोगिकेवली और अयोगिकेवली गुणस्थानों के अन्वेषण-स्थान।[48]

अन्त में, संक्षेप में कहा जा सकता है कि जीव की वे पर्याय विशेष अथवा अवस्था विशेष जिनमें अथवा जिनके द्वारा आत्मा के गुणों के विकास की विभिन्न अवस्थाओं अथवा विकास के विभिन्न सोपानों की गवेषणा की जाती है 'मार्गणास्थान' कहलाती हैं। मार्गणास्थान चौदह हैं - गति, इन्द्रिय, काय, योग, वेद, कषाय, लेश्या, ज्ञान, दर्शन, संयम, सम्यक्त्व, भव्य, संज्ञी और आहार मार्गणास्थान। इन चौदह मार्गणास्थानों में से गति, इन्द्रिय, काय, दर्शन, भव्य और आहार मार्गणा मिथ्यादृष्टि से अयोगिकेवली तक के गुणस्थानों के अन्वेषणस्थान हैं। योग और लेश्यामार्गणा मिथ्यादृष्टि से सयोगिकेवली तक के गुणस्थानों के अन्वेषणस्थान हैं। वेदमार्गणा मिथ्यादृष्टि से अनिवृत्तिकरण तक के गुणस्थानों का अन्वेषणस्थान है। कषाय मार्गणा मिथ्यादृष्टि से सूक्ष्मसांपरायशुद्धि संयत तक के गुणस्थानों का अन्वेषणस्थान है। ज्ञान असंयतसम्यग्दृष्टि से अयोगिकेवली तक के गुणस्थानों का अन्वेषणस्थान है। संयममार्गणा प्रमत्तसंयत से अयोगिकेवली तक के गुणस्थानों का अन्वेषणस्थान है। सम्यक्त्व सासादनसम्यग्दृष्टि से अयोगिकेवली तक के गुणस्थानों का अन्वेषणस्थान है और संज्ञीमार्गणा मिथ्यादृष्टि से क्षीणकषाय-वीतराग-छद्मस्थ तक के गुणस्थानों का अन्वेषणस्थान है। ये मार्गणास्थान विभिन्न गुणस्थानों के अन्वेषणस्थान सामान्यरूप में हैं विशेषरूप में नहीं अर्थात् विभिन्न मार्गणास्थानों के उप-भेद उपर्युक्त सामान्य मार्गणास्थान के सभी गुणस्थानों के अन्वेषणस्थान नहीं हैं, वे कुछ विशेष गुणस्थानों के ही अन्वेषणस्थान हैं। मार्गणास्थानों के उपभेद कौन-कौन से गुणस्थानों के अन्वेषणस्थान हैं, इसे एक तालिका द्वारा स्पष्ट किया जा सकता है, जो निम्नलिखित रूप में है -

क्रम. सं.	गुणस्थान का अन्वेषण स्थान/ हेतु अथवा मार्गणास्थान	मार्गणास्थान में पाये जानेवाले गुणस्थान
1. गतिमार्गणा	1. नरकगति	मिथ्यादृष्टि, सासादनसम्यग्दृष्टि, सम्यग्मिथ्यादृष्टि और असंयतसम्यग्दृष्टि गुणस्थान। (1-4)
	2. तिर्यंचगति	मिथ्यादृष्टि, सासादनसम्यग्दृष्टि, सम्यग्मिथ्यादृष्टि, असंयतसम्यग्दृष्टि और संयतासंयत गुणस्थान। (1-5)
	3. मनुष्यगति	सभी चौदह गुणस्थान। (1-14)
	4. देवगति	मिथ्यादृष्टि, सासादनसम्यग्दृष्टि, सम्यग्मिथ्यादृष्टि और असंयतसम्यग्दृष्टि गुणस्थान। (1-4)
2. इन्द्रियमार्गणा	1. स्पर्शन	मिथ्यादृष्टि गुणस्थान।
	2. रसना	मिथ्यादृष्टि गुणस्थान।
	3. घ्राण	मिथ्यादृष्टि गुणस्थान।
	4. चक्षु	मिथ्यादृष्टि गुणस्थान।
	5. श्रोत्र	असंज्ञी जीवों के मिथ्यादृष्टि गुणस्थान और संज्ञी जीवों के सभी चौदह गुणस्थान (1-14)
3. कायमार्गणा	1. पृथ्वीकाय	मिथ्यादृष्टि गुणस्थान।
	2. जलकाय	मिथ्यादृष्टि गुणस्थान।
	3. अग्निकाय	मिथ्यादृष्टि गुणस्थान।
	4. वायुकाय	मिथ्यादृष्टि गुणस्थान।
	5. वनस्पतिकाय	मिथ्यादृष्टि गुणस्थान।
	6. त्रसकाय	मिथ्यादृष्टि से अयोगिकेवली गुणस्थान। (1-14)
4. योगमार्गणा	1. मनोयोग	मिथ्यादृष्टि से सयोगिकेवली गुणस्थान।
	2. वचनयोग	मिथ्यादृष्टि से सयोगिकेवली गुणस्थान।
	3. काययोग	मिथ्यादृष्टि से सयोगिकेवली गुणस्थान। (1-13)

5. वेदमार्गणा	1. स्त्रीवेद	मिथ्यादृष्टि से अनिवृत्तिकरण गुणस्थान। (1-9)
	2. पुरुषवेद	मिथ्यादृष्टि से अनिवृत्तिकरण गुणस्थान। (1-9)
	3. नपुंसकवेद	मिथ्यादृष्टि से अनिवृत्तिकरण गुणस्थान। (1-9)
6. कषायमार्गणा	1. क्रोधकषाय	मिथ्यादृष्टि से अनिवृत्तिकरण गुणस्थान। (1-9)
	2. मानकषाय	मिथ्यादृष्टि से अनिवृत्तिकरण गुणस्थान। (1-9)
	3. मायाकषाय	मिथ्यादृष्टि से अनिवृत्तिकरण गुणस्थान। (1-9)
	4. लोभकषाय	मिथ्यादृष्टि से सूक्ष्मसांपराय शुद्धिसंयत गुणस्थान। (1-10)
7. लेश्यामार्गणा	1. कृष्णलेश्या	मिथ्यादृष्टि से असंयतसम्यग्दृष्टि गुणस्थान। (1-4)
	2. नीललेश्या	मिथ्यादृष्टि से असंयतसम्यग्दृष्टि गुणस्थान। (1-4)
	3. कापोतलेश्या	मिथ्यादृष्टि से असंयतसम्यग्दृष्टि गुणस्थान। (1-4)
	4. पीतलेश्या	मिथ्यादृष्टि से अप्रमत्तसंयत गुणस्थान। (1-7)
	5. पद्मलेश्या	मिथ्यादृष्टि से अप्रमत्तसंयत गुणस्थान। (1-7)
	6. शुक्ललेश्या	मिथ्यादृष्टि से अप्रमत्तसंयत गुणस्थान। (1-13)
8. ज्ञानमार्गणा	1. मतिज्ञान	असंयतसम्यग्दृष्टि से क्षीणकषाय-वीतराग-छद्मस्थ गुणस्थान। (4-12)
	2. श्रुतज्ञान	असंयतसम्यग्दृष्टि से क्षीणकषाय-वीतराग-छद्मस्थ गुणस्थान। (4-12)
	3. अवधिज्ञान	असंयतसम्यग्दृष्टि से क्षीणकषाय-वीतराग-छद्मस्थ गुणस्थान। (4-12)
	4. मनःपर्ययज्ञान	अप्रमतसंयत से क्षीणकषाय-वीतराग-छद्मस्थ-गुणस्थान। (7-12)
	5. केवलज्ञान	सयोगिकेवली और अयोगिकेवली गुणस्थान। (13-14)
9. दर्शनमार्गणा	1. चक्षुदर्शन	मिथ्यादृष्टि से क्षीणकषाय-वीतराग-छद्मस्थ गुणस्थान। (1-12)
	2. अचक्षुदर्शन	मिथ्यादृष्टि से क्षीणकषाय-वीतराग-छद्मस्थ गुणस्थान। (1-12)
	3. अवधिदर्शन	असंयतसम्यग्दृष्टि से क्षीणकषाय-वीतराग-छद्मस्थ गुणस्थान। (4-12)
	4. केवलदर्शन	सयोगिकेवली और अयोगिकेवली गुणस्थान। (13-14)

10. संयममार्गणा	1. सामायिक शुद्धिसंयम	प्रमत्तसंयत से अनिवृत्तिकरण गुणस्थान। (6-9)
	2. छेदोपस्थापना शुद्धिसंयम	प्रमत्तसंयत से अनिवृत्तिकरण गुणस्थान। (6-9)
	3. परिहार शुद्धिसंयम	प्रमत्तसंयत और अप्रमत्तसंयत गुणस्थान। (6-9)
	4. सूक्ष्मसांपराय शुद्धिसंयम	सूक्ष्मसांपराय शुद्धिसंयत गुणस्थान। (10)
	5. यथाख्यातविहार शुद्धिसंयम	उपशान्त-कषाय-वीतराग-छद्मस्थ, क्षीणकषाय-वीतराग-छद्मस्थ, सयोगिकेवलि और अयोगिकेवली गुणस्थान। (11-14)
11. सम्यक्त्वमार्गणा	1. क्षायिकसम्यक्त्व	असंयतसम्यग्दृष्टि से अयोगिकेवलि गुणस्थान। (4-14)
	2. वेदकसम्यक्त्व	असंयतसम्यग्दृष्टि से अप्रमत्तसंयत गुणस्थान। (4-7)
	3. उपशमसम्यक्त्व	असंयतसम्यग्दृष्टि से उपशान्त-कषाय-वीतराग-छद्मस्थ गुणस्थान। (4-11)
	4. सासादनसम्यक्त्व	सासादनसम्यग्दृष्टि गुणस्थान। (2)
	5. सम्यग्मिथ्यासम्यक्त्व	सम्यग्मिथ्यादृष्टि गुणस्थान। (3)
12. भव्यमार्गणा	1. भव्य	मिथ्यादृष्टि से अयोगिकेवली गुणस्थान। (1-14)
	2. अभव्य	मिथ्यादृष्टि गुणस्थान। (1)
13. संज्ञीमार्गणा	1. संज्ञी	मिथ्यादृष्टि से क्षीणकषाय-वीतराग-छद्मस्थ गुणस्थान। (1-12)
	2. असंज्ञी	मिथ्यादृष्टि गुणस्थान। (1)
14. आहारमार्गणा	1. आहारक	मिथ्यादृष्टि से सयोगिकेवली गुणस्थान। (1-13)
	2. अनाहारक	सिद्धों के अतिरिक्त - मिथ्यादृष्टि, सासादन सम्यग्दृष्टि, अविरतसम्यग्दृष्टि, सयोगिकेवली और अयोगिकेवली गुणस्थान। (1-4, 13-14)

1. किं मार्गणं नाम ? चतुर्दश जीवसमासाः सदादिविशिष्टाःमार्ग्यन्तेऽस्मिन्ननेन वेति मार्गणम्। तेषां चतुर्दशानां जीवसमासानां चतुर्दशगुणस्थानानामित्यर्थः।
   – धवला, सूत्र 1.1.2 की टीका, पृ. 132, जैन संस्कृति संरक्षक संघ, शोलापुर, 1973।
2. चौदह गुणस्थान हैं - मिथ्यादृष्टि, सासादनसम्यग्दृष्टि, सम्यग्मिथ्यादृष्टि, असंयतसम्यग्दृष्टि, संयतासंयत, प्रमत्तसंयत, अप्रमत्तसंयत, अपूर्वकरण-प्रविष्ट-शुद्धिसंयतों में उपशमक और क्षपक, अनिवृत्ति-बादर-सांपराय-प्रविष्ट-शुद्धिसंयतों में उपशमक और क्षपक, सूक्ष्मसांपराय-प्रविष्ट-शुद्धिसंयतों में उपशमक और क्षपक, उपशान्तकषाय-वीतराग-छद्मस्थ, क्षीणकषाय-वीतराग-छद्मस्थ, सयोगिकेवली और अयोगिकेवली गुणस्थान। - षट्खण्डागम, सूत्र 1.1.27
3. गोम्मटसार-जीवकाण्ड, गाथा 141, श्री परमश्रुत प्रभावक मण्डल, अगास, 1985।
4. गइ इंदिए काए जोगे वेदे कसाए णाणे संजमे दंसणे लेस्सा भविय सम्मत्त सण्णि आहारए चेदि। - षट्खण्डागम, सूत्र 1.1.4
5. धवला, सूत्र 1.1.2 की टीका, पृ. 132।
6. वही, सूत्र 1.1.4 की टीका, पृ. 135-136।
7. षट्खण्डागम, सूत्र 1.1.24।
8. वही, सूत्र 1.1.25।
9. वही, सूत्र 1.1.26।
10. धवला, सूत्र 1.1.24 की टीका, पृ. 203-204।
11. षट्खण्डागम, सूत्र 1.1.27।
12. धवला, सूत्र 1.1.24 की टीका, पृ. 204।
13. षट्खण्डागम, सूत्र 1.1.28।
14. धवला, सूत्र 1.1.4 की टीका, पृ. 136 से 138।
15. वही, सूत्र 1.1.33 की टीका, पृ. 233।
16. वही, सूत्र 1.1.33 की टीका, पृ. 233 से 238।
17. वही, सूत्र 1.1.33 की टीका, पृ. 234-235।
18. षट्खण्डागम, सूत्र 1.1.36।
19. वही, सूत्र 1.1.37।
20. धवला, सूत्र 1.1.4 की टीका, पृ. 139।
21. वही, सूत्र 1.1.4 की टीका, पृ. 139।
22. षट्खण्डागम, सूत्र 1.1.39।
23. वही, सूत्र 1.1.43।
24. वही, सूत्र 1.1.44।

25. धवला, सूत्र 1.1.4 की टीका, पृ. 141 ।
26. वही, सूत्र 1.1.47 की टीका, पृ. 281 ।
27. वही, सूत्र 1.1.49 की टीका, पृ. 282 से 284 ।
28. षट्खण्डागम, सूत्र 1.1.50-51 ।
29. वही, सूत्र 1.1.53-55 ।
30. वही, सूत्र 1.1.61-64 ।
31. धवला, सूत्र 1.1.4 की टीका, पृ. 142 ।
32. वही, सूत्र 1.1.101 की टीका, पृ. 342 से 345 ।
33. षट्खण्डागम, सूत्र 1.1.102-103 ।
34. धवला, सूत्र 1.1.4 की टीका, पृ. 142 ।
35. षट्खण्डागम, सूत्र 1.1.112-113 ।
36. धवला, सूत्र 1.1.115 की टीका, पृ. 359।
37. षट्खण्डागम, सूत्र 1.1.120-122 ।
38. वही, सूत्र 1.1.132-135 ।
39. धवला, सूत्र 1.1.4 की टीका, पृ. 145 ।
40. षट्खण्डागम, सूत्र 1.1.125-128 ।
41. धवला, सूत्र 1.1.4 की टीका, पृ. 152 ।
42. षट्खण्डागम, सूत्र 1.1.145-150 ।
43. धवला, सूत्र 1.1.4 की टीका, पृ. 151 ।
44. षट्खण्डागम, सूत्र 1.1.142-143 ।
45. धवला, सूत्र 1.1.4 की टीका, पृ. 153 ।
46. षट्खण्डागम, सूत्र 1.1.173-174 ।
47. धवला, सूत्र 1.1.4 की टीका, पृ. 153 ।
48. षट्खण्डागम, सूत्र 1.1.176-177 ।

12, प्रतापनगर
शास्त्रीनगर
जयपुर-302016

जैनधर्म के मर्मज्ञ : श्री वीरसेनाचार्य

- श्री कन्हैयालाल लोढा

•

जैनधर्म के आचार्यों का मानना है कि भगवान महावीर स्वामी ने जो उपदेश दिया वह उत्पाद-व्यय-ध्रुव इस त्रिपदी में था। उसे गणधरों ने गूँथा और आगमों के रूप में प्रस्तुत किया। गणधर केवलज्ञानी नहीं थे अतः उनके ज्ञान का जितना क्षयोपशम था उसके अनुसार भगवान की वाणी के कुछ अंश को प्रस्तुत किया गया। उनका भी अधिकांश भाग कालक्रम में लुप्त हो गया। आगमों का बहुत बड़ा भाग विच्छेद हो गया, बहुत थोड़ा भाग बचा है। जो भाग बचा है उसकी भी मूल में परिभाषा नहीं मिलती, उसके आशय व अर्थ को समझाने के लिए आचार्यों ने टीकाएँ लिखीं। उनमें प्रत्येक आचार्य ने प्रत्येक सूत्र की अपने ज्ञान के क्षयोपशम के अनुसार व्याख्याएं की। इन व्याख्याओं में आगम के अर्थों के अनेक प्रकार हो गये और आगम-सूत्रों की व्याख्याएं भिन्न-भिन्न हो गईं। जिसमें अनेक विचार-भेद व मतभेद हो गये। यह भिन्नता यहाँ तक बढ़ गई कि उनके आधार पर अनेक सम्प्रदाय बन गये। उन भिन्न-भिन्न मान्यताओं में सत्य को खोजना अत्यधिक कठिन कार्य हो गया। ध्यान, कायोत्सर्ग अंतर्मुखी आदि साधनाओं का क्रियात्मक रूप लुप्त हो जाने से ज्ञान अनुभूतिपरक न रहा, अनेक व्याख्याएं मात्र बौद्धिक व शाब्दिक रह गईं, निष्प्राण हो गईं। उनमें आगम का वास्तविक मर्म कम रह गया, फलतः धर्म के वास्तविक रूप को समझना कठिन हो गया। जैसे-जैसे समय बीतता गया वैसे-वैसे वास्तविक

अर्थ से यह दूरी बढ़ती गई। इसका प्रत्यक्ष प्रमाण श्री वीरसेनाचार्य की धवला-जयधवला टीका में देखा जा सकता है जो आज से एक हजार वर्ष पूर्व लिखी गई। उस समय भी आगम के प्रत्येक शब्द की अनेक परिभाषाएं व व्याख्याएं थीं, उन व्याख्याओं को श्री वीरसेनाचार्य ने प्रस्तुत किया। साथ ही उनमें से प्रत्येक में क्या कमी है उसे भी प्रस्तुत किया और प्रयत्न किया कि सही परिभाषा क्या हो सकती है इसके खोजने के लिए श्री वीरसेनाचार्य ने अपनी युक्तियां व प्रमाण तो दिये ही साथ ही उनके मर्म को प्रस्तुत करनेवाली प्राचीन गाथाएं भी उद्धृत कीं। वे गाथाएं अत्यन्त महत्वपूर्ण हैं तथा आगम के वास्तविक स्वरूप को ढूंढ़ने में आज बड़ी सहायक हैं। श्री वीरसेनाचार्य का यह कार्य अत्यन्त महत्वपूर्ण है। इन्हीं से वास्तविक अर्थ को ढूंढा जा सकता है तथा श्री वीरसेनाचार्य ने उस समय तक सैद्धान्तिक मान्यताओं में आई विकृतियों पर भी आगम के आधार पर प्रहार किया। इन सब पर लिखा जाय तो एक बहुत बड़ा ग्रन्थ बन जाय। प्रस्तुत लेख में संकेतात्मक रूप में ही कुछ उद्धरण दिए जा रहे हैं।

गोत्रकर्म जातिगत नहीं

गोत्रकर्म को ही लें, 'गोत्र' का अर्थ वर्तमान में प्रायः सभी जाति से ही लगाते हैं। ब्राह्मण-क्षत्रिय, वैश्य जाति में जन्म लेनेवाले को उच्च-गोत्रकर्म का उदय तथा भंगी, चमार, रैगर आदि शूद्र जातियों में जन्म लेने को नीच-गोत्र का उदय मानते हैं। परन्तु श्री वीरसेनाचार्य ने गोत्रकर्म की परिभाषा करते हुए धवला टीका, पुस्तक 13, पृष्ठ 388 में स्पष्ट कहा है - गोत्र का संबंध न ऐश्वर्य है, न योनि है, न जाति, वंश, कुल परंपरा से है यथा -

गोत्रकर्म की दो प्रकृतियाँ होती हैं - उच्चगोत्र और नीचगोत्र। उसकी इतनी मात्र प्रकृतियाँ हैं।

शंका - उच्चगोत्र का व्यापार कहाँ होता है ? राज्यादिरूप सम्पदा की प्राप्ति में तो उसका व्यापार होता नहीं है, क्योंकि उसकी उत्पत्ति सातावेदनीय कर्म के निमित्त से होती है। पांच महाव्रतों के ग्रहण करने की योग्यता भी उच्चगोत्र के द्वारा नहीं की जाती है, क्योंकि ऐसा मानने पर जो सब देव और अभव्य जीव पाँच महाव्रतों को नहीं धारण कर सकते हैं, उनमें उच्चगोत्र के उदय का अभाव प्राप्त होता है। सम्यग्ज्ञान की उत्पत्ति में उसका व्यापार होता है, यह कहना भी ठीक नहीं है; क्योंकि उसकी उत्पत्ति ज्ञानावरण के क्षयोपशम से सहकृत सम्यग्दर्शन से होती है। तथा ऐसा मानने पर तिर्यंचों और नारकियों के भी उच्चगोत्र का उदय मानना पड़ेगा, क्योंकि उनके सम्यग्ज्ञान होता है। आदेयता, यश और सौभाग्य की प्राप्ति में इसका व्यापार होता है; यह कहना भी ठीक नहीं है, क्योंकि इनकी उत्पत्ति नामकर्म के निमित्त से होती है। इक्ष्वाकु कुल आदि की उत्पत्ति में भी इसका व्यापार नहीं होता, क्योंकि वे काल्पनिक हैं, अतः परमार्थ से उनका अस्तित्व ही नहीं है। इसके अतिरिक्त वैश्य और ब्राह्मण साधुओं में उच्चगोत्र का उदय देखा जाता है। सम्पन्नजनों से जीवों की उत्पत्ति में इसका व्यापार होता है, यह कहना भी ठीक नहीं है; क्योंकि इस तरह तो म्लेच्छराज से उत्पन्न हुए बालक के भी उच्चगोत्र का उदय प्राप्त होता है। अणुव्रतियों से जीवों की उत्पत्ति में उच्चगोत्र का व्यापार होता है, यह कहना भी ठीक नहीं है; क्योंकि ऐसा मानने पर औपपातिक देवों में उच्चगोत्र के उदय का अभाव प्राप्त होता है, तथा नाभिपुत्र नीचगोत्री ठहरते हैं। इसलिए उच्चगोत्र निष्फल है और इसीलिए उसमें कर्मपना भी घटित नहीं होता। उसका अभाव होने पर नीचगोत्र भी नहीं रहता क्योंकि वे दोनों एक-दूसरे के अविनाभावी हैं। इसलिए गोत्रकर्म है ही नहीं।

समाधान – नहीं, क्योंकि जिनवचन के असत्य होने में विरोध आता है। वह विरोध भी वहाँ उसके कारणों के नहीं होने से जाना जाता है। दूसरे, केवलज्ञान के द्वारा विषय किये गये सभी अर्थों में छद्मस्थों के ज्ञान प्रवृत्त भी नहीं होते हैं। इसीलिये यदि छद्मस्थों को कोई अर्थ नहीं उपलब्ध होते हैं तो इससे जिनवचन को अप्रमाण नहीं कहा जा सकता। तथा गोत्रकर्म निष्फल है, यह बात भी नहीं है; क्योंकि, जिनका दीक्षायोग्य साधु-आचार है, साधु-आचारवालों के साथ जिन्होंने सम्बन्ध स्थापित किया है तथा जो 'आर्य' इस प्रकार के ज्ञान और वचनव्यवहार के निमित्त हैं उन पुरुषों की परम्परा को उच्चगोत्र कहा जाता है। उनमें उत्पत्ति का कारणभूत कर्म भी उच्चगोत्र है। यहाँ पूर्वोक्त दोष सम्भव ही नहीं हैं, क्योंकि उनके होने में विरोध है।

उससे विपरीत कर्म नीचगोत्र है। इस प्रकार गोत्रकर्म की दो ही प्रकृत्तियां होती हैं। वस्तुतः गोत्रकर्म का सम्बन्ध जातिगत न होकर जीव के ऊंच-नीच भावों से है जैसा कि श्री वीरसेनाचार्य ने कहा है –

उच्चुच्च उच्च वह उच्चणीच नीचुच्च णीच णीचं च ।
जस्सोदएण भावो णीचुच्चविवच्चिदो लम्म ॥101॥

धवला, पुस्तक 7

जिस गोत्रकर्म के उदय से जीव उच्चोच्च, उच्च, उच्चनीच, नीचोच्च, नीच और नीचनीच भाव को प्राप्त होता है उसी नीच गोत्र के क्षय से वह जीव ऊँच व नीच भावों से मुक्त होता है।

इससे स्पष्ट है कि गोत्रकर्म का संबंध भावों से है क्योंकि यह जीव शरीर से सम्बन्धित विकापी कर्म है, पुद्गल विपाकी नहीं है। यदि पुद्गल-विपाकी कर्म होता तो वह शरीर से संबंधित होता।

अन्तराय कर्म का क्षय और सिद्धावस्था

वर्तमान काल में बहुत से विद्वान सिद्ध भगवान में दान, लाभ आदि लब्धियां नहीं मानते हैं परन्तु श्री वीरसेनाचार्य ने धवला पुस्तक 7 में सिद्धों में पांच लब्धियाँ मानी हैं –

विरियोवभागे-भोगे दाणे लाभे जदुयदो विग्घं ।
पंच विह लद्धि जुत्तो तक्कम्मखया हवे सिद्धो ॥11॥

जिस अंतराय कर्म के उदय से जीव के वीर्य, उपभोग, भोग, दान और लाभ में विघ्न उत्पन्न होता है उसी कर्म के क्षय से सिद्ध पँचलब्धि (दान, लाभ, भोग, उपभोग और वीर्य) से युक्त होते हैं।

नोट – अंतराय-कर्म के क्षय से तेरहवें गुणस्थान में दान, लाभ, भोग, उपभोग और वीर्य-जीव के ये पाँचों क्षायिक गुण प्रकट होते हैं। ये गुण जीव के स्वभाव हैं अतः निज गुण हैं किसी बाहरी पदार्थ पर निर्भर नहीं हैं और न बाहरी जगत से संबंधित हैं। अतः सिद्ध होने पर ये गुण नष्ट नहीं हो सकते ? सिद्धों में इन गुणों को न मानना क्षायिक भाव, गुण व स्वभाव का भी नष्ट होना मानना है, जो उचित नहीं है।

दर्शनावरणीय कर्म और स्व-संवेदन

दर्शनावरणीय कर्म में प्रयुक्त दर्शन शब्द को ही लें – 'दर्शन' शब्द का प्रायः सभी आचार्यों ने 'सामान्य ज्ञान' अर्थ किया है परन्तु दर्शनावरणीय कर्म में आए दर्शन शब्द का अर्थ स्वसंवेदन होता है और इस अर्थ पर जितना बल धवलादि टीका में दिया है वैसा अन्यत्र देखने को नहीं मिलता। संवेदनशीलता ही चेतना का मूल गुण है। कारण कि जिसमें संवेदनशीलता नहीं है उसमें चेतना गुण भी नहीं है। इस प्रकार दर्शन और ज्ञान का अभाव होने पर चेतना के ही अभाव का प्रसंग उपस्थित हो जायेगा। इसी प्रकार श्री वीरसेनाचार्य ने दर्शन को अंतर्मुख चैतन्य एवं ज्ञान को बहिर्मुख चित्त-प्रकाशक कहा है। दर्शन और ज्ञान का ऐसा स्पष्ट भेद अन्यत्र देखने को नहीं मिलता है।

जैन संप्रदायों में 'सामान्य ग्रहण' को दर्शन कहा है परन्तु वीरसेनाचार्य ने 'सामान्य' शब्द का अर्थ 'आत्मा व जीव' किया है (धवला, पुस्तक 1, पृ. 148)।

श्री वीरसेनाचार्य द्वारा प्रस्तुत विशेष ज्ञातव्य परिभाषाएं –

ज्ञान-दर्शन

बाह्यार्थ परिच्छेदिका जीव शक्तिर्ज्ञानम् । (धवला टीका, 5.5.19, पुस्तक 13, पृष्ठ 206)
अर्थ – बाह्य अर्थ का परिच्छेद करनेवाली जीव की शक्ति ज्ञान है।

"सायारोणाणं ····· कमा-कत्तारभावो आगारो"

अर्थात् साकार उपयोग का नाम ज्ञान है। ····· कर्म कर्तृत्वभाव का नाम ज्ञान है।

बहिर्मुखचित्त प्रकाश ज्ञान है । ····· ज्ञान बहिरंग अर्थ को विषय करता है।

अनाकार उपयोग का नाम दर्शन है। दर्शन अंतरंग अर्थ को विषय करता है।

अंतर्मुख चैतन्य दर्शन है। (धवला टीका, 1.1.4, पुस्तक 1, पृष्ठ 146।)

वेदनीय

जीव के सुख और दुःख का उत्पादक कर्म वेदनीय है।

प्रश्न – प्रकृत में सुख शब्द का क्या अर्थ लिया गया है?

उत्तर – प्रकृत में दुःख के उपशम रूप सुख को लिया गया है।

नोट – यहां विषय सुख को सातावेदनीय में ग्रहण नहीं किया है।

करुणा : स्वभाव है, विभाव नहीं

वर्तमान में बहुत से विद्वान् करुणा, दया आदि भावों को जीव का विभाव मानते हैं परन्तु श्री वीरसेनाचार्य ने करुणा को जीव का स्वभाव कहा है यथा – "करुणाएं कारणं कम्मं करुणे त्ति कि ण वुत्तं ? ण, करुणाएं जीव-सहावस्स कम्मजणिदत्त विरोहादो। अकरुणाएं कारणं कम्मं वत्तव्वं ? ण, एस दोसो, संजमधादि कम्माणं फलाभावेण तिस्से अब्भुवगमादो।" (धवला, पुस्तक 13, पृष्ठ 361; षट्खंडागम खंड 5, अनुयोग 5, सूत्र 96)।

अर्थ – प्रश्न – करुणा का कारणभूत कर्म 'करुणा कर्म' है, यह क्यों नहीं कहा ?

उत्तर – नहीं, क्योंकि करुणा जीव का स्वभाव है, अतएव उसे कर्मजनित (कर्मोदय से) मानने में विरोध आता है। अर्थात् यह औदयिक भाव नहीं है, यह किसी कर्म के उदय से नहीं होती।

प्रश्न – तो फिर अकरुणा का कारण कर्म कहना चाहिए ?

उत्तर – यह कोई दोष नहीं है, क्योंकि उसे संयमघाती कर्मों के फलरूप से स्वीकार किया गया है।

श्री वीरसेनाचार्य के उपर्युक्त कथन से स्पष्ट है कि करुणा और करुणा के समानार्थक अनुकंपा, वात्सल्य, मैत्री, वैयावृत्य (सेवा), दया आदि गुण हैं, ये सब जीव के स्वभाव हैं। जीव के स्वभाव होने से धर्म हैं, धर्म होने से कर्मों का क्षय करनेवाले हैं, मुक्ति दिलानेवाले हैं।

करुणा, अनुकंपा आदि भाव किसी भी कर्म के उदय से नहीं होते हैं। अतः औदायिक भाव नहीं हैं। औदायिक भाव न होने से कर्म-बंध के कारण नहीं हैं। क्योंकि भाव पांच हैं – औदायिक, क्षायिक, औपशमिक, क्षायोपशमिक एवं पारिणामिक। इन भावों में से केवल औदायिक भावों को ही कर्म-बंधन का कारण कहा गया है। क्षायिक, औपशमिक एवं क्षायोपशमिक भाव से कर्म क्षय होते हैं ऐसा नियम ही है।

यही नहीं, श्री वीरसेनाचार्य ने स्पष्ट शब्दों में अकरुणा को संयमघाती कर्मों का फल कहा है। इससे स्पष्ट है कि जो करुणा-रहित है, जिसमें करुणा का अभाव है, वहां संयम का अभाव है, क्योंकि जिनकर्मों के उदय से संयम का घात होता है उन्हीं कर्मों के उदय से अकरुणा उत्पन्न होती है। अतः वर्तमान में जो करुणा, अनुकंपा, दया, दान आदि को विभाव मानते हैं वे जैनागम विरुद्ध हैं। तत्वार्थसूत्र में करुणा, मैत्री को संवर तत्व में स्थान दिया है। रत्नकरण्ड श्रावकाचार में निःशंकित, निःकांक्षित आदि सम्यक्त्व दर्शन के आठ अंगों में वात्सल्य को भी गिनाया है। यदि वात्सल्य को विभाव व विकार ही माना जाय तो निःशंकित, निःकांक्षित आदि सभी गुणों को व सम्यक्दर्शन को भी विभाव व विकार मानना पड़ेगा। इसी प्रकार सम, संवेग, निर्वेद, अनुकंपा, आस्था आदि सम्यक्त्व के लक्षण हैं, यदि इनमें से अनुकंपा को विभाव व औदायिक भाव माना जाये तो संवेग, निर्वेद तथा सम्यक्त्व को औदायिक भाव व विभाव मानना होगा। जो जैनागम एवं कर्म-सिद्धान्त तथा तत्वज्ञान के विरुद्ध है।

श्री वीरसेनाचार्य ने अकरुणा को संयमघाती कर्मों का फल बताया है। अतः आज जो अनुकंपारहित हैं उन्हें पाप-कर्म का आस्रव होता है। जिनकी अनुकंपा में जितनी कमी उतना ही पापास्रव अधिक होता है। इससे स्पष्ट है कि जो करुणाहीन हैं, अनुकंपारहित हैं उन्हें संयम हो ही नहीं सकता, जब संयम ही नहीं हो सकता तब वे वीतराग कैसे हो सकते हैं ? कदापि नहीं हो सकते। आज जो इधर कुछ पंडित करुणा, दया, दान आदि शुभभावों को विभाव बतला रहे हैं – यह कहां तक उचित है ?

उपर्युक्त मान्यता आगम-विरुद्ध है तथा घोर अमानवता व अधर्म की सूचक है। मुक्ति में न जाने का वास्तविक कारण कषाय का पूर्ण रूप से क्षय नहीं होना है। कषाय पूर्ण क्षय ना होने से पुण्य का उत्कृष्ट अनुभाग नहीं होता और यह नियम है कि क्षपक श्रेणी में जब पुण्य प्रकृति का उत्कृष्ट अनुभाग होता है तब ही केवलज्ञान होता है। पुण्य के उत्कृष्ट अनुभाग के अभाव में

केवलज्ञान संभव ही नहीं है। अतः केवलज्ञान न होने का कारण पुण्य के अनुभाग का उत्कृष्ट नहीं होना है न कि पुण्य का अर्जन। जब पुण्य के उत्कृष्ट अनुभाग के बिना कोई वीतराग ही नहीं हो सकता तो मुक्ति कैसे ? इससे स्पष्ट है कि मुक्ति न मिलने व केवलज्ञान न होने का कारण पुण्य के उत्कृष्ट अनुभाग में कमी रहना है न कि पुण्य की उपलब्धि। पुण्य के उत्कृष्ट अनुभाग में कमी होने का कारण तत्सम्बन्धी कषाय की विद्यमानता व उदय है। अतः वीतरागता, केवलज्ञान व मुक्ति-प्राप्ति का बाधक कारण कषायरूप पाप का पूर्ण क्षय न होना है, पुण्य नहीं। अतः पुण्य को मुक्ति में बाधक मानना जैनागम व जैनकर्म सिद्धान्त के विपरीत है।

शुभयोग (सद्प्रवृत्ति) से कर्म क्षय होते हैं

जैनागमों में विषय-कषाय, हिंसा, झूठ आदि असद् प्रवृत्तियों को सावद्य योग, अशुभ योग व पाप कहा गया है तथा दया, दान, करुणा, वात्सल्य, वैयावृत्य आदि सद् प्रवृत्तियों को शुभ-योग व पुण्य कहा गया है। साथ ही शुभयोग को संवर भी कहा है। शुभयोग को संवर कहने का अर्थ यह है कि शुभयोग से कर्म-बंध नहीं होता है तथा यह भी कहा गया है कि शुभयोग से कर्म क्षय होते हैं अर्थात् कर्मों की निर्जरा भी होती है। 'शुभयोग' संवर और निर्जरा रूप है अर्थात् दया, दान, अनुकंपा, करुणा, वात्सल्य, सेवा, परोपकार, मैत्री आदि सद् प्रवृत्तियों से कर्म-बंध नहीं होता है प्रत्युत कर्मों का क्षय होता है।

'शुभयोग से कर्म-बंध नहीं होता है वरन् कर्म-क्षय होता है।' यह मान्यता जैनधर्म की मौलिक मान्यता है और प्राचीन काल से परम्परा के रूप में अविच्छिन्न धारा से चली आ रही है। इसके अनेक प्रमाण ख्यातिप्राप्त दिगम्बर आचार्य श्री वीरसेन स्वामी रचित प्रसिद्ध 'धवला टीका' एवं 'जयधवला टीका' में देखे जा सकते हैं। उन्हीं में से कषाय पाहुड की जयधवला टीका से एक प्रमाण यहां उद्धृत किया जा रहा है –

सुह सुद्ध परिणामेहिं कम्मक्खयाभावे तक्खयाणुववत्तीदो उत्तं च –

ओदइयाबंधयरा उवसम-खय-मिस्सया य मोक्खयरा ।
भावो दु परिणामिओ करणोभय वज्जिओ होइ ॥1॥

जयधवला, पुस्तक 1

अर्थात् शुभ और शुद्ध परिणामों से कर्मों का क्षय न माना जाय तो फिर कर्मों का क्षय हो ही नहीं सकता। कहा भी है –

औदयिक भावों से कर्म-बंध होता है। औपशमिक, क्षायिक और मिश्र (क्षायोपशमिक) भावों से मोक्ष होता है तथा पारिणामिक भाव बन्ध और मोक्ष इन दोनों के कारण नहीं है।

उपर्युक्त उद्धरण में टीकाकार श्री वीरसेनाचार्य ने जोर देकर स्पष्ट शब्दों में कहा है कि क्षायोपशमिक भाव (शुभयोग) से कर्म क्षय होते हैं, कर्म-बंध नहीं होते हैं। कर्मबंध का कारण तो एकमात्र उदयभाव ही है।

उपर्युक्त मान्यता पर इस ग्रंथ के मान्यवर संपादक महोदय ने 'विशेषार्थ' के रूप में अपनी टिप्पणी देते हुए लिखा है – "शुभ परिणाम कषाय आदि के उदय से ही होते हैं क्षयोपशम आदि

से नहीं। इसलिए जबकि औदयिक भाव कर्मबंध के कारण हैं तो शुभ परिणामों से कर्मबंध ही होना चाहिये, क्षय नहीं।''

'शुभ भाव' कषाय के उदय से होते हैं। सम्पादक महोदय की उपर्युक्त यह मान्यता केवल एक संपादक महोदय की ही हो सो नहीं है। यह मान्यता कुछ शताब्दियों से जैनधर्मानुयायियों के अनेक संप्रदायों में घर कर गई है। कारण कि शुभभावों की उत्पत्ति का कारण यदि कषाय के उदय को न माना जाय तो 'शुभभाव से कर्मबंध होता है' यह नहीं माना जा सकता, जो उनको इष्ट नहीं है।

यहाँ प्रथम यह विचार करना है कि शुभभाव की उत्पत्ति का कारण कषाय का उदय है या नहीं। इस संबंध में निम्नांकित तथ्य चिंतनीय है -

कषाय अशुभभाव है। अशुभभावों के उदय से शुभ परिणामों की उत्पत्ति मानना मूलतः ही भूल है। यह भूल ऐसी ही है जैसे कोई कटु नीम का बीज (निम्बोली) बोये और उसके फल के रूप में मधुर आमों की उपलब्धि होना माने। परन्तु नियम यह है कि जैसा बीज होता है वैसा ही फल होता है, अतः कषायरूप अशुभ परिणामों के उदय के फलस्वरूप शुभ परिणामों की उत्पत्ति मानना भूल है।

यदि शुभभावों की उत्पत्ति का कारण कषाय के उदय को माना जाय तो अशुभभावों की उत्पत्ति का कारण किसे माना जाय ? फिर तो अशुभभावों की उत्पत्ति का कारण शुभभावों की मानना होगा, जो युक्तियुक्त नहीं है। यदि शुभभाव और अशुभभाव इन दोनों भावों की उत्पत्ति का कारण कषाय के उदय को माना जाय तो एक ही कारण से दो विरोधी कार्यों की उत्पत्ति या दो विरोधी फलों की प्राप्ति माननी पड़ेगी जो न उचित है और न उपयुक्त ही तथा युक्तियुक्त भी नहीं है।

यदि केवल शुद्ध-भाव को ही कर्मक्षय का कारण माना जाय और शुभभावों से कर्म-क्षय न माना जाय तो वीतराग के अतिरिक्त अन्य कोई कर्मक्षय कर ही नहीं सकता। कारण कि वीतराग को छोड़कर अन्य किसी के शुद्धभाव संभव ही नहीं है क्योंकि वीतराग के अतिरिक्त शेष सब प्राणियों के नियम से कषाय का उदय रहता ही है और जहां तक कषाय का उदय है वहां तक शुद्ध-भाव नहीं हो सकते और शुद्धभाव के अभाव में कर्मों का क्षय नहीं हो सकेगा। इस प्रकार दशवें गुणस्थान तक कर्मक्षय का कोई उपाय ही शेष न रहेगा। कर्मक्षय के अभाव में तप-संयम, संवर; निर्जरा के अभाव का प्रसंग उत्पन्न हो जायेगा। जिससे साधना के मार्ग का ही लोप हो जायेगा जो आगम-विरुद्ध है। *इस आपत्ति का निवारण शुभभाव को कर्मक्षय का कारण मानने* से ही संभव है, इसके अतिरिक्त अन्य कोई समाधान नहीं जान पड़ता है। अतः शुभभाव से कर्मबंध होता है यह मान्यता युक्तिविरुद्ध है।

शुभ व शुद्ध-भाव से कषाय में मंदता आती है। कषाय में जितनी मंदता आती है उतनी ही सत्ता में स्थित कर्म प्रकृतियों की स्थिति का क्षय होता है। स्थिति का क्षय ही कर्म का क्षय है, जैसा कि श्री वीरसेनाचार्य ने कषायपाहुड (गाथा 1 की जयधवला टीका, पुस्तक 1, पृष्ठ 57) में कहा है -

''पुव्व संचियस्स कम्मस्स कुदो खओ? द्विदिक्खयादो। द्विदिखंडओकत्तो कसायक्खयादो।

अर्थ – प्रश्न – पूर्व संचित कर्म का क्षय किस कारण से होता है ?

उत्तर – कर्म की स्थिति का क्षय हो जाने से कर्म का क्षय हो जाता है।

प्रश्न – स्थिति का क्षय किस कारण से होता है ?

उत्तर – कषाय के क्षय से स्थिति का क्षय होता है। अर्थात् जितने अंशों में कषाय क्षय होता है, कषाय में कमी आती है उतने अंशों में नवीन कर्मों में स्थिति नहीं पड़ती है और सत्ता में स्थित कर्मों की पुरातन स्थिति का क्षय हो जाता है।"

उपर्युक्त नियम आयु कर्म को छोड़कर शेष सात कर्मों की सब पाप तथा पुण्य प्रकृतियों पर समानरूप से लागू होता है। कर्मग्रंथ, कम्मपहडि, पंच संग्रह, गोम्मटसार कर्मकाण्ड आदि समस्त कर्म-सिद्धान्त वाङ्मय इसी सिद्धान्त का प्रतिपादन व पुष्टि करते हैं। तात्पर्य यह है कि शुभभाव से कर्मक्षय होते हैं यह तथ्य पूर्णरूप से आगम एवं कर्म सिद्धान्त-सम्मत है। इसमें मतभेद को कोई स्थान नहीं है। अतः यह मानना कि 'शुभभाव औदयिक भाव हैं और कर्म-बंध के कारण हैं' आगम और कर्म-सिद्धान्त के विरुद्ध है।

शुद्धोपयोग से पुण्याश्रव होता है

पुण्णस्सासवभूदा अणुकंपा सुद्धओ व उपजोओ।
विपरीओ पावस्स हु आसवहेउं वियाणाहिं ॥52॥

जयधवला, पुस्तक 1

अर्थात् अनुकंपा और शुद्ध उपयोग ये पुण्यास्रव स्वरूप हैं या पुण्यास्रव के कारण हैं तथा इनसे विपरीत अर्थात् अदया और अशुद्ध उपयोग ये पापास्रव के कारण हैं। इस प्रकार आस्रव के हेतु समझना चाहिये।

उपर्युक्त गाथा में श्री वीरसेनाचार्य ने अनुकंपा और शुद्ध उपयोग इन दोनों को पुण्यास्रव का कारण बताया है इससे प्रथम तथ्य तो यह फलित होता है कि शुद्ध उपयोग अर्थात् शुद्ध भाव से भी आस्रव होता है और द्वितीय तथ्य यह फलित होता है कि अनुकंपा और शुद्ध उपयोग (शुद्ध भाव) से दोनों सहचर व सहयोगी हैं अर्थात् जो कार्य शुद्ध उपयोग/शुद्धभाव से होता है वही कार्य अनुकंपा से भी होता है। तृतीय तथ्य यह सामने आता है कि पुण्यास्रव का हेतु अशुद्ध-भाव या विभाव नहीं है प्रत्युत शुद्धभाव ही है। अशुद्ध भाव व विभाव से पाप का ही आस्रव होता है पुण्य का नहीं।

उपर्युक्त तीनों तथ्य श्रमण संस्कृति व कर्म-सिद्धान्त के प्राण हैं। जो इन तथ्यों को स्वीकार नहीं करता वह श्रमण संस्कृति व जैन कर्म-सिद्धान्त को स्वीकार नहीं करता है। आगे इन्हीं दो तथ्यों पर विचार किया जा रहा है –

श्री वीरसेनाचार्य ने जयधवला की इसी प्रथम पुस्तक में पृष्ठ 5 पर शुभ व शुद्ध भाव को कर्म-क्षय का कारण बताया है और यहां इसी पुस्तक के पृष्ठ 96 पर इन्हें पुण्यास्रव का कारण बताया है। इससे यह स्पष्ट होता है कि जो पुण्यास्रव के कारण हैं वे ही कर्म-क्षय के भी कारण हैं अर्थात् पुण्यास्रव व कर्म-क्षय के कारण एक ही हैं। इससे यह भी फलित होता है कि पुण्यास्रव की वृद्धि जितनी अधिक होगी उतना ही कर्म-क्षय अधिक होगा या यों कहें कि पुण्यास्रव कर्म-

क्षय में हेतु है और यह नियम है कि जो कर्म-क्षय का हेतु है वह कर्म-बंध का कारण नहीं हो सकता। अत: पुण्यास्रव कर्मबंध का कारण नहीं हो सकता।

वर्तमान में जैन समाज में सर्व-साधारण में यह धारणा प्रचलित है कि जहां आस्रव है वहां कर्म का बंध है। परन्तु उनकी यह धारणा पुण्यास्रव तत्व, आस्रव तत्व व बंध तत्व का रहस्य न समझने के कारण से है। क्योंकि यदि आस्रव बंध का कारण होता तो आस्रवतत्व बंधतत्व का ही एक रूप या भेद होता, ये दोनों तत्व अलग-अलग नहीं कहे होते। परन्तु कर्मबंध का कारण कषाय और योग को कहा है और योग में भी शुभयोग को कर्मबंध का कारण नहीं कहा है – प्रत्युत शुभयोग को कर्म-क्षय का कारण कहा है। क्योंकि शुभयोग कषाय में कमी का द्योतक है जिससे कर्मों की स्थिति के क्षयरूप कर्मबंध का क्षय नियम से होता है। यह नियम है कि जितना शुभ या शुद्धभाव बढ़ता जावेगा अर्थात् सद् प्रवृत्ति दया, अनुकंपा व त्याग, तप, संयम बढ़ता जायेगा उतना पुण्य का आस्रव बढ़ता जावेगा अर्थात् पुण्य-प्रकृतियों का अनुभाग व प्रदेश बढ़ते जावेंगे और इस पुण्य के अनुभाग के बढ़ने से पाप-प्रकृतियों की स्थिति व अनुभाग घटता (क्षय होता) जावेगा तथा पुण्य-प्रकृतियों की स्थिति भी घटती जावेगी। यह स्मरण रहे कि मिथ्यात्व अवस्था में सद्प्रवृत्तियों से जितना पुण्य-प्रकृतियों का आस्रव होता है अर्थात् पुण्य-प्रकृतियों के अनुभाग का उपार्जन होता है उससे असंख्य-अनन्त गुणा पुण्य का अर्जन पुण्यास्रव, संयम-त्याग-तप से होता है।

यहां यह तथ्य स्मरण रखने का है कि पुण्य-पाप का आधार कर्मों का अनुभाग है स्थिति नहीं। कारण कि कर्म सिद्धान्तानुसार आयु कर्म को छोड़कर शेष सात कर्मों की समस्त पाप तथा पुण्य प्रकृतियों का स्थिति बंध कषाय की वृद्धि (संक्लेश) से अधिक तथा कषाय की कमी 'विशुद्धि' से कम होता है। अत: स्थिति बंध सातों कर्मों की समस्त प्रकृतियों का अशुभ ही है शुभ नहीं। तत्त्वार्थसूत्र (अध्याय 6, सूत्र 2-3 की) राजवार्तिक आदि टीकाओं में स्थिति बंध को स्पष्ट शब्दों में अशुभ कहा है। शुभ ही पुण्य होता है। अत: सर्वत्र पुण्य शब्द से आशय पुण्य के अनुभाग से ही है स्थिति से नहीं ।

जयधवला की उपर्युक्त गाथा "पुण्णस्सासवभूदा ··· वियाणदि" अर्थ में "सुद्धओ व उवजोओ" का अर्थ शुद्ध योग अनुवादक व सम्पादक ने अपनी इच्छा से जोड़ दिया है जबकि शुद्ध योग जैसा कुछ होता ही नहीं है, शुभयोग होता है और यह शुभयोग भावों की विशुद्धि से होता है अर्थात् शुद्धोपयोग से होता है। इससे स्पष्ट है कि शुद्धोपयोग से पुण्यास्रव होता है। अत: शुभयोग से ही पुण्यास्रव मानना और शुद्धोपयोग को पुण्य का आस्रव का हेतुक मानना बहुत बड़ी भ्रान्ति है। मूल गाथा में उत्तरार्द्ध में अनुकंपा और शुद्धोपयोग के विपरीत को अर्थात् अशुद्धोपयोग को पाप के आस्रव का हेतु कहा है। यदि शुभ-योग को अशुद्धोपयोग का भेद माना जाय तो उपर्युक्त गाथा के अनुसार शुभयोग को पाप के आस्रव का हेतु कहा जायेगा – पुण्यास्रव का नहीं। जबकि शुभयोग से पुण्यास्रव होता है इससे स्पष्ट है कि शुभयोग शुद्धोपयोग रूप भाव का ही क्रियात्मक रूप है। अत: शुभयोग को अशुद्धोपयोग, अशुद्धभाव-विभाव कहना आगम-विरुद्ध है। विभाव केवल पाप का ही द्योतक है, पुण्य का नहीं। क्योंकि –

पुण्य का उपार्जन शुद्धोपयोग से होता है। शुद्धोपयोग उसे ही कहा जाता है जिससे आत्मा पवित्र हो और जिससे आत्मा पवित्र हो वही पुण्य है। पुण्य की यह परिभाषा राजवार्तिक, सर्वार्थसिद्धि आदि प्राचीन टीकाओं में आचार्यों को मान्य रही है।

यह नियम है कि जीव जब मिथ्यात्व से हटकर सम्यक्त्व के सम्मुख होता है तो सब कर्मों की स्थिति का अपकर्षण होकर (घटकर) अंत: कोडा-कोडी रह जाती है तथा सब पाप कर्मों का अनुभाग चतु:स्थानिक से घटकर द्विस्थानिक रह जाता है। यदि शुभभाव के कर्म-क्षय होना न माना जाय तो मिथ्यात्व गुणस्थान में कर्मों की सत्तर, चालीस, तीस, बीस, दश कोडा-कोडी की स्थिति का क्षय होकर अंत: कोडा-कोडी रह जाना संभव ही नहीं होता और न पाप-कर्मों का अनुभाव चतु:स्थानिक से घटकर द्विस्थानिक हो सकता और ऐसा हुए बिना सम्यग्दर्शन की प्राप्ति ही नहीं होती। तात्पर्य यह है कि शुभ परिणामों के फलस्वरूप पाप व पुण्य कर्मों की स्थिति का क्षय होता है और पाप-कर्मों का अनुभाग भी क्षय होता है तथा सम्यग्दर्शन होता है। अत शुभ परिणामों से कर्म-क्षय न मानना न तो कर्म सिद्धान्त-सम्मत है न आगम-सम्मत और न युक्तियुक्त। अभिप्राय यह है कि "शुभभावों से कर्म-क्षय होते हैं" श्री वीरसेनाचार्य का यह कथन ही आगमसम्मत व कर्म-सिद्धान्त-सम्मत है।

जिससे पाप-कर्मों का क्षय हो वही साधना है। पुण्य कर्मों के क्षय के लिए किसी भी साधना की आवश्यकता नहीं है और विशुद्धिभाव, संवर, संयम, तप, जप, निर्जरा आदि किसी भी साधना से पुण्य के अनुभाग का क्षय नहीं होता है प्रत्युत पुण्य का अर्जन होता है, पुण्य के अनुभाग में वृद्धि होती है। अत: जैनागम में कहीं भी पुण्य को क्षय करनेवाली किसी भी साधना का विधान नहीं है, क्योंकि किसी भी साधना में पुण्य का क्षय संभव ही नहीं है। पुण्य के क्षय का मात्र एक ही उपाय है और वह है पाप की वृद्धि। अत: जिन्हें पुण्य का क्षय इष्ट है उन्हें पाप प्रवृत्ति की वृद्धि करनी होगी।

तात्पर्य यह है कि कषाय पाप है, अशुभ है, चाहे वह मंद हो या तीव्र। मंद या कम कषाय कम पाप है, तीव्र या अधिक कषाय अधिक पाप है पर है दोनों पाप ही। कषाय में मंदता से आत्मा पवित्र होती है अत: कषाय की मंदता पुण्य है, धर्म है, साधना है। उक्त कषाय की मंदता या कमी होना शुभ है, परन्तु मंद कषाय अर्थात् जो कषाय शेष रह गया है वह शुभ नहीं है। इस रहस्य को न जानने से अनेक उलझनें पैदा हुई हैं। जैसे किसी रोग में कमी होना स्वस्थता की वृद्धि की सूचक है परन्तु जो रोग शेष रह गया है वह स्वस्थता का नहीं अस्वस्थता का ही सूचक है इसी प्रकार कषाय में कमी होना आत्म-विशुद्धि की, स्वभाव की, स्वस्थता की, शुद्धोपयोग की सूचक है परन्तु जो कषाय शेष रह गया है वह विकार का, विभाव का, अस्वस्थता का, अशुद्धोपयोग का, पाप का सूचक है।

इसी प्रकार वर्तमान काल में आगम एवं कर्म सिद्धान्त की अधिकांश व्याख्याओं में विकृति आ गई है। अत: विद्वानों से निवेदन है कि धवला, जयधवला, राजवार्तिक आदि टीकाओं एवं उन टीकाओं में उद्धृत प्राचीन गाथाओं पर चिंतन-मनन कर उन (विकृतियों) का संशोधन करने का प्रयास करें।

जैन सिद्धान्त शिक्षण संस्थान
साधना भावना, ए-9, महावीर उद्यान पथ
बजाज नगर, जयपुर-302017

अप्प संवोह कव्व

अनु. – डॉ. कस्तूरचन्द सुमन

•

प्रस्तुत काव्य अपभ्रंश भाषा का सुन्दर आध्यात्मिक ग्रन्थ है। इसमें तीन परिच्छेद हैं। तीनों परिच्छेदों में क्रमशः 20, 27, 11 – इस प्रकार कुल 58 कडवक तथा 202, 275 और 112 के क्रम से कुल 589 यमक हैं।

प्रथम संधि के प्रथम घत्ता में ग्रन्थ का नाम यद्यपि 'णिय संवोह' कहा गया है किन्तु तीनों सन्धियों की समाप्ति के पश्चात् 'अप्प संवोह कव्व' नाम भी प्रयुक्त हुआ है। प्रथम सन्धि के दूसरे कडवक में 'संवोहमि सह अप्पेण अप्पु' पद से कवि के स्वयं के द्वारा स्वयं को सम्बोधित किये जाने के विचार ज्ञात होते हैं। कवि की धारणा है कि दूसरों को उपदेश करने से मनुष्य की अधोगति होती है। यही कारण है कि कवि स्वयं को ही सम्बोधित करता है और अपने द्वारा अपना उद्धार करना चाहता है। द्रष्टव्य हैं कवि की निम्न पंक्तियाँ –

उवएसु करेसमि जइ परहो । ता भावइ अह भावइ णरहो ।
तिणि कारणि अप्पहो वज्जरमि । अप्पाणउ अप्पें उद्धरमि ॥ 1.3॥

प्रस्तुत काव्य में 'णिय' की अपेक्षा 'अप्प' शब्द के प्रयोग की बहुलता तथा सन्धियों के अन्त में स्पष्ट 'अप्प संवोह कव्व' नाम का प्रयोग होने से इस ग्रन्थ का यह नाम रखा गया है।

इस ग्रन्थ को डॉ. राजाराम जैन प्रभृति विद्वान् कवि रइधूकृत मानते हैं। इस ग्रन्थ की जो प्राचीनतम पाण्डुलिपि प्राप्त हुई है उसके अन्त में निम्न प्रशस्ति मिलती है –

संवत् 1534 वर्षे श्रावण सुदि पंचमी भौमवासरे । श्रीमूलसंघे
कुंदकुंदाचार्यान्माये । भट्टारक श्री सिघकीर्त्ति । तस्य सिष्य
श्रीप्रचंडकीर्ति देवान् । तस्य सिष्य मंडलाचार्य श्री सिंहणंदि इदं
आत्म संबोध ग्रन्थ लिष्यतं कर्म्मक्षय निव्यत्य (सुभमस्तु) ।

प्रस्तुत प्रशस्ति से इस ग्रंथ के रचयिता मंडलाचार्य श्री सिंहनंदि ज्ञात होते हैं। संभवतः इन्होंने ही पंच नमस्कार मंत्र माहात्म्य ग्रंथ लिखा था। संवत् 1534 ग्रन्थ का रचना काल कहा जा सकता है। यह पाण्डुलिपि आमेर शास्त्र भण्डार जयपुर में ग्रन्थ प्रविष्टि संख्या 61 से संगृहीत है। इसमें पाँचों अणुव्रतों को गहराई से समझाया गया है।

पढमो-संधि

ओं नमो वीतरागायः ॥

जय मंगलगारउ, वीरु भडारउ
भुवण सरणु केवलणयणु।
लोगोत्तमु गोत्तमु, संजय सोत्तमु,
आराहमि तह जिण - वयणु ।

1.1

चउवीसमु - जिणु हय-पंचवाणु। तिहुवण-सिरि-सेहरु वद्ढमाणु ।।
चउ गइ भव-गमणागमण-मुक्कु । कम्मद्ठ-णिविड-वंधणु-विमुक्कु ।।
णव-भाव जोणि-उप्पत्ति-हीणु । परमप्पय - सुद्ध - सहाव - लीणु ।।
परिसेसिय पंच पयार - भारु । पाविय संसार - समुद्द-पारु ।।
आवरणहीणु गय-वेयणीउ । आउसु विमुक्कु हय-मोहणीउ ।।
धुउ णाम - गोत्तु - विगयंतराउ । परिगलिय सुहासुह - पुण्णु - पाउ ।।
अवहत्थिय पंच पयार दुक्खु । संपत्तु सहोत्थाणत - सुक्खु ।।
चुअ जोणि लक्खु चुलसीदि जम्मु । संसार - असेसावइ अगम्मु ।।
णासिय ति लिंग पज्जत्तिच्छक्कु । खीणाडयाल सय पयडि-चुक्कु ।।
अणुखंद्ध - दव्व - संवंध चत्तु । जय केवल अप्प सरूव पत्तु ।।
फेडिय अट्ठारह दोस - भाउ । धोविय अणाइ दुव्वार राउ ।।
छह दव्व - सरूव फुरंतणाणु । सहजाणंदाचल सुह - णिहाणु ।।

घत्ता – सो वीर-जिणेसरु, भुवण-दिणेसरु, हियइ धरेविणु भव-हरणु ।
जहि वुद्धि-पयासें, कहमि समासें, णिय-संवोह पवित्थरणु ॥1॥

प्रथम संधि

लोकोत्तम गौतम (गणधर), भगवान महावीर के पास दीक्षा लेनेवाले संजय नृप और संसार की शरण, केवलज्ञानरूपी नेत्रवाले मंगलधाम पूज्य वीर (महावीर) की जय हो। (मैं) उन जिनेन्द्र के वचनों की आराधना करता हूँ ।

1.1
(मंगलस्वरूप वीर-वर्द्धमान-गुण-स्मरण)

कामदेव के पाँचों वाणों (द्रवण, शोषण, तापन, मोहन और उन्मादन) का नाशकर, त्रैलोक्य-लक्ष्मी में मुकुट-स्वरूप, संसारिक चारों गतियों (नरक, तिर्यंच, मनुष्य और देव) में गमनागमन से मुक्त, आठों कर्मों (ज्ञानावरण, दर्शनावरण, वेदनीय, मोहनीय, आयु, नाम, गोत्र और अन्तराय) के प्रगाढ़ बन्धन से मुक्त, नौ भाव योनियों (सचित्त, शीत, संवृत, अचित्त, उष्ण, विवृत, सचित्ताचित्त, शीतोष्ण और संवृत-विवृत) में उत्पत्ति से रहित, परम पद-मोक्ष और शुद्ध स्वभाव में लीन, पाँच प्रकार के शरीर-भार (औदारिक, वैक्रियिक, आहारक तैजस और कार्माण) का अन्त करके भवसागर से पार पाकर, ज्ञान और दर्शन के आवरण से रहित, वेदनीय से मुक्त, मोहनीय का नाशकर, आयु (कर्म) से मुक्त, नाम, गोत्र और अन्तराय का नाशकर (और) शुभोत्पन्न पुण्य तथा अशुभोत्पन्न पाप को गलाकर निश्चल, पाँचों प्रकार के दुःखों को त्यागकर (और) एक साथ उत्पन्न होनेवाले अनन्त सुख आदि अनन्त चतुष्टय को पाकर, चौरासी लाख जन्म-योनियों से च्युत होकर संसार को निःशेष करनेवाले, अगम्य, तीनों लिंग (पुल्लिंग, स्त्रीलिंग और नपुंसकलिंग) तथा छहों पर्याप्तियों (आहार, शरीर, इन्द्रिय, श्वासोच्छ्वास, भाषा और मन) को नाशकर और क्षीण एक सौ अड़तालीस कर्म-प्रकृतियों से रहित, अणु और स्कन्ध द्रव्य-संबंध को त्यागकर केवल आत्मा स्वरूप पानेवाले, अठारह दोष-भाव (जन्म, जरा, तृषा, क्षुधा, विस्मय, अरति, खेद, रोग, शोक, मद, मोह, भय, निद्रा, चिन्ता, स्वेद, राग, द्वेष और मरण) नाशकर तथा दुःख से रोकने योग्य अनादि के राग को धोकर द्रव्य (जीव) पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल, स्वरूप स्फुरित ज्ञानवाले, सहजानन्द, अचल सुख-निधान चौबीसवें जिनेन्द्र वर्द्धमान की जय हो।

घत्ता – संसार के लिए सूर्य-स्वरूप, संसार का अन्त करनेवाले उन जिनेश्वर वीर को हृदय में धारण करके उनकी बुद्धि के प्रकाश में विस्तृत निज संबोध (काव्य) संक्षेप से कहता हूँ।1।

1.2

जिणु-थुणमि जगत्तय - लद्धमाणु । अज्ज वि जसु तित्थु - पयट्टमाणु ॥
वित्थारिज्जइ गुरु - मुणिवरेहि । पालिज्जइ सावय - णरवरेहि ॥
लब्भइ भवियणहि अगव्वएहिं । मा विउ अम्हारिसु भव्वएहिं ॥
जिणु - तित्थु लहि वि हउ गलिय दप्पु । संवोहमि सइ अप्पेण अप्पु ॥
हउ एकु जीउ जारिसु, णभंति । जगि सव्व जीव तारिसु वसंति ॥
णवि कासु वि हउ ण वि कोवि मज्झु । अप्पेण णिहल एकल्ल वुज्झु ॥
तिणि कारणि महु दुज्जणु ण कोवि । दव्वत्थें वंद्धउ सयल लेवि ॥
इउ जाणिवि चित्त करेवि एउ । जं भासइ सिरि सव्वण्हु - देउ ॥
सव्वह सहुच्छंडहि राउ - दोसु । करि मित्तिभाउ णासिय विरोहु ॥
परदव्व - विसयच्छंडहि ममत्तु । हणि मोहजालु भावहि समत्तु ॥

घत्ता – जिणधम्मु लहेविणु, तच्चु गहेविणु, जइच्छाडेसहि जीव तुहु ।
चउ गइहि भमंतउ, चिरसु-रसंतउ, ताइ सहेसि महंतु-दुहु ॥2॥

1.3

काटि वि संसारहो, सिवणयरे, मणु को वि ण लेसइ खंधि करे ।
उवएसु कहेसमि जइ परहो, ता भावइ अह भावइ णरहो ॥
तिणि कारणि अप्पहो वज्जरम्मि । अप्पाणउ अप्पें उद्धरम्मि ॥
सुणि जीव भमंतउ दुक्ख - घणें । जइ दोणउ तुह संसारवणे ॥
तउ करि जिणसासण संगहणु । जीवाइ पयत्थह सद्दहणु ॥
छंडहि कुदेउ मोहें - जडिउ । मिच्छत्त - दोस - घंघलि पडिउ ॥
अण्णाणंधउ दप्पुब्भडउ । पंचिदिय - सुहरस - लंपडउ ॥
एयारस - देवह मा णवहि । अवरइमि कुदेवइ परिचवहि ॥
किं वहुणा एकु जि परम जिणु । इयरइ मापुज्जहि तेण विणु ॥
देवत्तु जिणेसर परिघडइं । अवरह तं फुडु वि ण संघडइ ॥

घत्ता – जिणवर-गुण-णियरह, देवहं इयरहं, गुणु-दोसु वि जाणेविणु ।
गुणु सयलु गहिज्जइ, दोसु चइज्जइ, मणि- विचारु माणे विणु ॥3॥

1.2
(ग्रन्थ-रचना-उद्देश्य)

आज भी प्रवर्तमान तीर्थंकर का यश तीनों लोकों में प्राप्त करते हुए जिनेन्द्र की स्तुति करता हूँ। श्रेष्ठ गुरु मुनियों द्वारा (इस जैनधर्म का) विस्तार किया जावे और श्रावकों तथा श्रेष्ठ राजाओं के द्वारा पालन किया जावे, अभिमानरहित होकर भव्यजनों द्वारा प्राप्त किया जावे। विद्वान् भव्यजनों द्वारा हमारे समान नहीं (रहा जावे)। जिनेन्द्र के तीर्थ को पाकर तथा मान गलाकर मैं अपने द्वारा स्वयं अपने को सम्बोधता हूँ। जैसे जीव आकाश में अकेला रहता है, वैसे ही संसार में सभी जीव रहते हैं (इसमें) सन्देह नहीं। मैं किसी का नहीं हूँ और न कोई मेरा है। आत्मा से सभी को अकेला जानो । इस कारण मेरा कोई भी दुर्जन नहीं है। सभी द्रव्य और अर्थ से बँधे हैं। ऐसा जानकर चित्त को इस प्रकार करो जैसा श्री सर्वज्ञ देव कहते हैं – सभी राग-द्वेष त्यागो। विरोधभाव का नाश करके मैत्रीभाव करो। पर द्रव्यों के विषयजनित ममता (मोह) को त्यागो और मोहजाल का नाशकर समता-भाव भाओ।

घत्ता – हे जीव ! चारों गतियों में भ्रमते हुए और चिरकाल से प्रतिकूल रसों का आस्वादन करते हुए उससे महान् दुःख सहते हो। यदि तुम (उससे) छूटना चाहते हो (तो) जैनधर्म और तत्त्व ग्रहण करो।2।

1.3
(निजोपदेश-हेतु एवं संसार-मुक्ति-चिन्तन)

कोई भी मनुष्य कंधे पर बैठाकर संसार काट करके शिवनगर में नहीं ले जावेगा। यदि ऐसा दूसरों को उपदेश करूँगा तो मनुष्य के निम्न भाव भाता हूँ (मनुष्य की निम्नता को प्राप्त करूँगा)। इस कारण से स्वयं को कहता हूँ (और) अपना अपने द्वारा उद्धार करता हूँ। हे जीव ! सुनो-सघन दुःखकारी संसाररूपी वन में भ्रमते हुए यदि दीन-शिथिल हो गये हो तो जिनेन्द्र का शासन ग्रहण करके जीवादि पदार्थों पर श्रद्धान करो। मिथ्यात्व दोषों के मंथन में पड़े हुए मोह से जड़ित कुदेवों को छोड़ो। अज्ञान से अन्धे महान घमण्डी, पाँचों इन्द्रियों के विषय-रसों के लम्पटी ग्यारस देवादि (तथा) अन्य कुदेवों को नमन मत करो, त्याग करो। बहुत क्या एक जिनेन्द्र ही श्रेष्ठ हैं। उन्हें छोड़कर अन्य देवों को मत पूजो। (यदि) जिनेश्वर देव दूसरों का निर्माण करते हैं तो स्पष्ट है (कि) दूसरे उसे नहीं रचते हैं।

घत्ता – जिनेन्द्र के गुण-समूह और इतर देवों के गुण-दोषों को जाने बिना तथा मन में विचार किये बिना सभी गुण ग्रहण कीजिए और दोष त्यागिए ।3।

1.4

जो जासु को वि पुज्जइ णवेवि। सो भुवणि होइ तारिसु मरेवि ॥
जो पुज्जइ ढोरु सो होइ ढोरु। चोरह सेवंतह होइ चोरु ॥
सप्पहो पुज्जंतह सप्पु होइ। भिक्खिय संगे लक्खिउ ण कोइ ॥
एयाइ देव कुच्छिय अणेय। चेयण वि अचेयण विविह भेह ॥
जो मूढ वुद्धि पुज्जइ णवेवि। सो चउ गइ दुहभायणु हवेइ ॥
इय जाणिवि जोच्छंडइं कुदेउ। जिणवर जगणाहहो करइ सेवु ॥
उप्पज्जइ मरिवि सु देवलोइ। जगगुरु - पुज्जइ सुरपुज्जु होइ ॥
माणिवि सुर रमणि विमाण सोक्खु। होइ वि णरिंदु पुणु लहइ मोक्खु ॥
एउ मुणिवि चित्ति अरहंतु देउ। आराहहि कय संसारच्छेउ ॥
परिहरिवि जम्मजरमरण - दुक्खु। पावहि अणंतु णिव्वाण सुक्खु ॥

घत्ता – एरिसु मइ अक्खिउ, देउ परिक्खिउ, णिच्छिउ जीव मुणिज्जहि।
एवहि गुरु भासमि, तुज्झु पयासमि, एक्कचित्तु, णिसुणिज्जहि ॥4॥

1.5

जो गुरु अमुणिय जिणधम्म - मग्गु। वय वज्जिउ इंदिय - विसय-भग्गु ॥
कोहग्गि पलित्तउ माणदद्दुु। मायारउ लोह-दवग्गि दद्दुु ॥
कुच्छिउ धम्मालसु वंभहीणु। उड्डिय करु अणदिणु णाय दीणु ॥
अण्णाणधम्मु पयडइं णराहं। सो सइ वुड्डइ वोलइ पराह ॥
सो पुणु जाणिज्जइ गुरु महंतु। जो दंसण णाणचरित्तवंतु ॥
जो जाणइ णिच्छइ मोक्खमग्गु। मायाविहीणु दरिसइ समग्गु ॥
हय कोह माणु परिहरिय लोहु। कय मित्तिभाउ णासिय विरोहु ॥
जो जीव - दयावरु सच्चभासि। वज्जिय अदत्त दिढ वंभरासि ॥
जो कय इंदिय जउ मुक्कु संगु। ण करइ कयावि चारित्तभंगु ॥
जो सहिय परीसहु गलिय राउ। अरि सुहि तिण मणि मज्झत्थभाउ ॥

घत्ता – एकल्ल दियंवरु, जो कय संवरु, अट्ट रउद्दज्झाण - रहिउ।
सो गुरु आवज्जहि, चलणइ पुज्जहि, झाइय धम्म - सुक्कु - सहिउ ॥5॥

1.4
(जस पूजा तस फल दिग्दर्शन)

जो कोई भी जैसे (देव) को पूजता, नमस्कार करता है वह मरकर संसार में वैसा ही होता है। जो पशुओं को पूजता है वह पशु होता है, (जैसे) चोरों की सेवा करनेवाला चोर होता है। सर्प की पूजा करनेवाला सर्प होता है। भिखारी के साथ में कोई दिखाई नहीं देता। चेतन और अचेतन इत्यादि विविध भेदवाले अनेक कुत्सित देव हैं। जो मूढबुद्धि (उन्हें) पूजता है, नमस्कार करता है वह चतुर्गति के दु:खों का पात्र होता है। इस प्रकार जानकर जो कुदेवों को त्याग देता है और जगत के स्वामी जिनेन्द्र की सेवा करता है वह मरकर देवलोक में उत्पन्न होता है। (जो) जगत के गुरु को पूजता है (वह) देव-पूज्य होता है; देवांगनाओं और विमान-सुख का अनुभव करने के पश्चात् राजा होता है और इसके पश्चात् मोक्ष पाता है। चित्त में ऐसा जानकर संसार का छेदन करनेवाले अर्हन्त देव की आराधना करके जन्म, जरा और मरण दु:खों को त्यागकर अनन्त निर्वाण-सुख पाओ ।

घत्ता – हे जीव ! देवों की परीक्षा करके जो मैंने कहा है वह निश्चय जानो। एकाग्र मन से सुनो - गुरु इस प्रकार कहते हैं, तुझे समझाता हूँ ।4।

1.5
(असम्यक् एवं सम्यक् गुरु-स्वरूप)

जैनधर्म, जिनमार्ग और जिनव्रतों से रहित, इन्द्रिय-विषयों से भग्न, क्रोधाग्नि से प्रदीप्त, दृढमानी, माया में रत, लोभरूपी दावाग्नि से दग्ध, कुत्सित, धर्म में आलसी, ब्रह्मचर्य-विहीन, हाथ ऊपर करके प्रतिदिन दीन के समान (आचरणशील), दूसरों को अज्ञानधर्म प्रकट करनेवाले, शोषणकारी और डुबानेवाले बोल दूसरों को बोलनेवाले को गुरु नहीं जानो। उसे महान गुरु जानिए जो दर्शन, ज्ञान और चारित्रधारी है, जो निश्चय मोक्षमार्ग को जानता है, अपने मार्ग में माया से रहित दिखाई देता, क्रोध और मान भंग कर तथा लोभ को हटाकर मैत्रीभावपूर्वक विरोध नाश करके जो जीव-दया करता है, सत्यभाषी है, बिना दिये लेने का त्यागी है, ब्रह्मचर्य में दृढ है, जो इन्द्रिय-विषयों को जीतकर परिग्रह से मुक्त है, जो कभी भी चारित्र भंग नहीं करता, जो परीषह सहकर और राग गलाकर शत्रु, सुख के संबंध में मध्यस्थ भावी होता है।

घत्ता – एकाकी, दिगम्बर रहकर संवर करके आर्त और रौद्रध्यान से जो रहित तथा धर्म और शुक्ल ध्यान से सहित होते हैं उन गुरु को प्राप्त करो और चरण पूजो ।5।

1.6

जइ ते हउ पुणु पच्चक्खु गुरु । दीसइ ण को वि पय णविय सुरु ।।
तहि विहु कुच्छिय गुरु मय-सहिउ । मा वंदहि तव-संजम - रहिउ ॥
कुच्छिय गुरु पाउ ण अवहरइ । वोहित्थ कज्जु किं सिल करइ ।।
इउ वुज्झिवि परम जइसरहं । पय झायहि णिहरई सरहं ।।
भवियण जण-मण संवोहणहं । भव जलणिहि तारण पोहणहं ॥
मय - मोह - पमाय - अदूसियहं । पंचमचारित्त विहूसियहं ।।
थिय परम समाहि परिट्ठियहं । केवलसिरि सुह उक्कंट्ठियहं ।।
परिवज्जिय भोये - भुयंगयहं । परमप्पयरूवलयंगयहं ।।
सुमरंतहो गुणु जइयहो तणउ । तुव होइ परोखु महाविणउ ।।
णिज्जरइ पाउ पुण्णु जि हवए । मुणि - गुण - चिंतइं सुहु संभवए ।।

घत्ता – केवलगुण - मंडिउ, दोसहि छंडिउ, आयमलोयणु अणुसरहिं ।
तुहु गुरु माणिज्जहि, हियइ धरिज्जहि, इयर असेसहि परिहरहिं ॥6॥

1.7

अहो जीव विमल परिणाम जुअ । सुणि एवहि भासमि धम्मु तुव ।।
जो कुगुरु - कुआगमि भासियउ । सो धम्मु ण होइ सुहासियउ ॥
जं पुणु केवलि जिण वज्जारिउ । महि गणहर देविहि वित्थरिउ ।।
सुवकेवलि परिवाडिए गहिउ । णिग्गंथाइरियह जणे कहिउ ।।
सो धम्मु खविय संसारमलु । जीवह दरिसइ सिव सुक्खुफलु ।।
जिणुदेउ परम णिग्गंथ गुरु । दह लक्खणु धम्मु अहिंसपरु ।।
जो णिच्छइ भावे सद्दहइ । सम्मत्तरयणु फुडु सो हवइ ।।
सुणि इक्कह भावि इक्कमणु । करि मंज्ज मंस महु परिहरणु ॥
पंचुवर - फल वज्जण सहिउ । वसु भेय मूलगुण तुव कहिउ ।।
इय पढम अट्ठ जो परिहरइ । सो परु णरु उत्तरगुण धरइ ।।

घत्ता – मइरा मक्खिउ पलु, पंचुवर फलु, विविध जीव - जम्भायरहं ।
तिविहि वज्जिज्जहि, णवि चक्खिज्जइं, दाविय भवदुह - सायरइं ।।7।।

1.6
(सम्यक्-असम्यक्-गुरु-माहात्म्य)

यदि देव-वन्दित चरणवाला कोई भी गुरु प्रत्यक्ष दिखाई नहीं देता है तो ऐसे कुत्सित, मायावी, असंयमी गुरु की वन्दना मत करो। कुत्सित गुरु पाप दूर नहीं करता है। (ठीक है) नौका का कार्य क्या शिला करती है ? ऐसा जानकर रति-समरण को विनाश करनेवाले परम यतीश्वर के चरण को ध्याओ। भव्यजनों के मन को सम्बोधनेवाले (वे) संसार-सागर से पार होने के लिए नौका स्वरूप हैं। माया, मोह, प्रमाद से अदूषित तथा पाँचवें यथाख्यातचारित्र से विभूषित, स्थिर परम समाधि में स्थित, केवलज्ञानरूपी लक्ष्मी-सुख में उत्कंठित भुजंगस्वरूप भोगों को त्यागकर परमपदरूपी गृह के अवयव स्वरूप यति के गुणों का तनिक स्मरण करने से तुम्हारी परोक्ष में महाविनय होती है, पाप-पुण्य की निर्जरा होती है। मुनि के गुणों का चिन्तन करने में सुख उत्पन्न होता है।

घत्ता – केवलज्ञानरूपी गुणों से विभूषित, दोषों से रहित तथा आगम-नेत्रधारी का अनुसरण करो। तुम (उन्हें) गुरु मानो (और) हृदय में धारण करो। अन्य सभी (गुरुओं) का त्याग करो। 6।

1.7
(धर्म-स्वरूप और अष्टमूलगुण-विवेचन)

हे जीव ! विशुद्ध परिणामों से युक्त होकर सुनो - तुम्हें धर्म समझाता हूँ। जो कुगुरु और कुआगम कहा गया है, वह धर्म नहीं होता है (यह) भलीप्रकार से कहा गया है । जो जिनेन्द्र केवली द्वारा कहा गया है और गणधर देव के द्वारा पृथ्वी पर (जिसका) विस्तार किया गया, श्रुतकेवलियों ने (जिसे) परम्परा से प्राप्त किया और निर्ग्रन्थ आचार्यों ने (जो) जन-जन में कहा, (जो) सांसारिक मलिनता का क्षय करके जीवों को शिवसुखरूपी फल दर्शाता है, वह धर्म है। जिनेन्द्र देव और निर्गन्थ गुरु तथा दस लक्षणात्मक और अहिंसात्मक धर्म पर जो निश्चय से भावपूर्वक श्रद्धान करता है वह स्पष्ट है (कि) सम्यक्त्व रत्न पाता है। एकाग्र भाव और मन से सुनो - पंच उदम्बर फल और मद्य, मांस, मधु के त्यागसहित मूलगुण के तुम्हें (ये) आठ भेद कहे हैं। पहले इन आठों को जो त्यागता है वह उत्तम मनुष्य ही उत्तर गुण धारण करता है ।

घत्ता – मद्य, मांस, मधु और पंच उदम्बर फल विविध जीवोत्पत्ति की खदान हैं। (ये) भव-दुःख सागर दर्शाते हैं। (अतः) मन, वचन, काय, तीनों प्रकार से त्यागो, चखो भी नहीं ।7।

1.8

जिण - वयणु जीव हियवइ धरहि । तुहु सयलह जीवह दय करहि ।।
भउजणहि ण कासु वि पसु - णरहो । अप्पाणु जेम रक्खहि पर हो ।।
जीवह वहु हियइ ण चितंवहो । मा कहिमि मारि वयणु वि चवहो ।।
काएण ण घायहि को वि पुणु । इय तिविहें पालहि जीव गणु ।।
पर दिण्ण गालि घाउ वि खमहो । उट्ठउ कोहाणलु उवसमहो ।।
सहसा कोवेण ण परु हणहो । वंधव तहं विड सम रिस गणहो ।।
अप्पाण मेरु परु तिण सरिसु । मा भावहि माण कसाय वसु ।।
छलु वलु करेवि वंचेवि जणु । मा हिंसहि लोह णिसण्ण मणु ।।
घरु गामु णयरु वणु मा डहहि । पर - हम्मुमाणु मा सद्दहहि ।।
जण-पीडणि मा अणुणइ करहो । किं वित्थरु हिंसा परिहरहो ।।

घत्ता – जो हिंस - विवज्जिउ, वुहयण - पुज्जिउ, धम्मु तिलोय पियारउ ।
किज्जइ सम भावें, विहुणिय पावें, सो भव - दुक्ख - णिवारउ ।।8।।

1.9

संसारि - जीव जे थिय विविहं । तस - थावर भेयहिं ते दुविहं ।।
इक्किंदिय - थावर कम्म - वस । वे तय चउ पंचिंदिय वि तस ।।
जसु सयल णिवित्ति ण संभावइ । तस हिंस - विरत्तउ सो हवइ ।।
थावर वि ण विणु कज्जि वहइ । पढमाणुव्वय दय विहियमइ ।।
आरंभहो णवि उच्छाहमणु । कज्जइमि करंतु णतवई जणु ।।
ण वि कूडभाउ णवि वंक मइ । पंजल मणु कय सब्भाव रइ ।।
परलोयह तह घर माणुसह । जो विउल चित्तु परणिय वसह ।।
सव्वह जीवह हिउ चिंतवइं । कासु वि उप्परि णउ दुट्ठमइ ।।
छिंदणु-भेयणु - वंधणु - दमणु । ण करइ वावारु वि - जण-तवणु ।।
पह जन्तु णिरिक्खिवि देइ पउ । रक्खइ आयरिण अहिंसवउ ।।

घत्ता – वज्जिय पर वंचणु, कय जिणु अंचणु, जो सव्वहं वीसास-घरु ।
सो उवसामिय मणु, आणंदिय जणु, धरइ अहिंसा-धम्म - वरु ।।9।।

1.8
(जीव-वध निषेधात्मक उपदेश)

तुस सभी जीवों पर दया करो – यह जिनेन्द्र-वचन (आज्ञा) हे जीव ! हृदय में धारण करो। किसी भी पशु या मनुष्य का भोजन मत करो। अपने समान पर की रक्षा करो।

जीवघात का हृदय में चिन्तन न करो और न मारने का वचन बोलो। स्वयं भी किसी का घात मत करो। इस प्रकार मन, वचन और काय तीनों से जीव-समूह को पालो। दूसरे के गालियाँ देने या घात करने पर भी क्षमा करो। उठते हुए क्रोधानल का उपशमन करो। क्रोध से एकाएक दूसरे का घात मत करो। क्रोध के समय धूर्तों की बन्धुओं के समान गणना करो । मान कषायवश स्वंय को मेरु पर्वत के समान बड़ा और दूसरों को तिनके के समान (तुच्छ) मत समझो। छल-बल करके लोगों को मत ठगो और लोभासक्त मन से हिंसा मत करो। घर, ग्राम, नगर, वन मत जलाओ। दूसरों का वध करते हुए पर श्रद्धान मत करो। जन पीड़ाकारी अनुमति नहीं करो। विस्तार (पूर्वक कहने) से क्या ? हिंसा का त्याग करो।

घत्ता – जो हिंसा-त्यागी है (वह) बुधजनों द्वारा पूजा जाता है। धर्म तीनों लोकों को प्रिय है। वह पापों का उन्मूलन करके सांसारिक दु:खों का निवारक है। (उसे) समता परिणामों से (धारण) कीजिए ।8।

1.9
(जीव-भेद एवं अहिंसक-स्वभाव-स्वरूप)

संसार में जो विविध प्रकार के जीव स्थित हैं वे दो प्रकार के हैं – त्रस और स्थावर। कर्म-वश एकेन्द्रिय (जीव) स्थावर और दो, तीन, चार तथा पाँच इन्द्रियोंवाले त्रस (जीव) हैं। जिसके सम्पूर्ण (हिंसा) निवृत्ति संभव नहीं होती है वह त्रस हिंसा से विरत होता है। स्थावर जीवों का भी निरर्थक घात नहीं करता है। प्रथम अणुव्रत दया विधि मय है। उत्साहित मन से (कार्य) आरंभ मत करो। किन्तु कार्य करते हुए जन के प्रति विनत रहो। क्रूर भाव मत करो और न वक्रबुद्धि करो। मन सरल करके सद्भावों में रत रहो। उस मनुष्य का परलोक घर है जो विमल चित्त परणति के वश है, सभी जीवों का हित विचारता है। किसी के भी ऊपर दुष्ट बुद्धि नहीं करता है, जन-संतापकारी छेदन, भेदन, बन्धन और दमन-व्यापार नहीं करता है, जन्तु देखकर मार्ग में पैर देता है (और) आचार्य से अहिंसाव्रत रखता है।

घत्ता – पर-वंचना त्यागकर और जिनेन्द्र की अर्चन करके (जो) सभी का विश्वास-पात्र होता है, वह उपशान्त मन से लोगों को आनन्दित करते हुए श्रेष्ठ अहिंसा धर्म धारण करता है ।9।

1.10

सुणि जीव सुहंकरु जिण - वयणु । जइ लोडहि अविचलु सुहरयणु ।।
तुहुं केण वि पिल्लिउ परिहसिउ । जइ वंधिउ पिट्टिउ उवहसिउ ।।
सुय वंधव पियर विओइयउ । जइ केण वि कहमि परज्जियउ ।।
फेडिउ दंडाविउ णाावियउ । जइ माणभंगु तुव दावियउ ।।
रिउणा ढोयउ णिव मारिणउ । सहु कारणे अहव अकारणउ ।।
एयाइ महावइ पावियउ । अवरेहिमि दुक्खिहि तावियउ ।।
तउ कोहु करे विणु मणि सुइरो । मातेण सरिसु वंधइ - वइरो ।।
मातहि मारणे उज्जमु करहि । तहो उप्परि कोहु ण मणि धरहि ।।
पुव्वकिउ भुंजहि इउ सयलु । तुहु अरि मिसेण णिव पावफलु ।।
सइ कम्मु करिवि रूसेहि किसू । तुहु लहहि सुहासुह कम्म - वसू ।।

घत्ता – इउ हियइ मुणेविणु, कोहु हणेविणु, परकिउ दुक्खु जि जइ खमहि ।
सुअणत्तु लहेविणु, कम्मु डहेविणु, तउ सासम-सिव-सुह रमइ ।।10।।

1.11

सहु केण वि वइरु म हियइ धरि । अण उवयारहो उवयारु करि ।।
जइ धम्ममूलु जिणवरु चवइ । सा उत्तम खमइ ण संभवइ ।।
विणु खमइ ण लब्भइ जीवदया । विणुताइ णरिंद वि णरइ गया ।।
इम चिंतिवि उत्तम खम करहि । चिर संचिउ कलिमलु णिज्जरहि ।।
अज्जहि ण कम्मु पुणु अवरु तुहु । भव - दुक्खहो मुच्चहि लहहि सुहु ।।
पीडिज्जमाणु अवरेहिं जइ । खम छंडहि वइरिणि वद्धमइं ।।
तउ अवरु कम्मु अज्जहि असुहु । पुणु तहो फलेण अणु दुहु ।।
कुगइहि पावहि जम्मंतरइ । भवि-भवि दुक्खाइ णिरंतराइ ।।
तो वरि णिम्मल खम उद्धरहि । कलि रुक्ख मूलुच्छेउ वि करहि ।।
कोहाणलेण तप्पंति णरा । खम णीरें सीयल हुंति परा ।।

घत्ता – संसार असारहो, वहु - दुह - भारहो, एम होइ णिग्गमु परइ ।
विवरीउ करंतहं, दुम्मइंवंतहं, जावह दुक्खु परंपरइं ।।11।।

1.10
(स्वकर्म फल-चिन्तन)

हे जीव ! भव-भ्रमण पर विजय करानेवाला, अविचल सुखकारी, शुभ रत्नस्वरूप जिनेन्द्र-वचन सुनो, यदि किसी के द्वारा तुम घेरे गये, बाँधे गये, पीटे गये, (तुम्हारा) उपहास किया गया। पुत्र, भाई, माता-पिता का विछोह किया गया, यदि किसी के द्वारा परजीवी कहा गया, दूर हटाये गये, दण्डित किये गये, झुकाये गये, यदि सम्मान भंग करके तुम दबाये गये, वैरी के द्वारा ढोकर ले जाये जाने पर कारणसहित या अकारण राजा के मारने पर इत्यादि महा आपत्तियाँ पाकर तथा ऐसे ही अन्य दु:खों से संतप्त होकर मन की शुचिता से क्रोध किये बिना बन्धन में पड़े शत्रु को माता के समान विचारो, माता के मारने में जो उद्यम करता है उसके ऊपर (भी) मन में क्रोध मत धारण करो। तुम यह सब पूर्वोपार्जित अपने पापों का फल शत्रु के बहाने भोगते हो। स्वयं कर्म करके किस पर क्रोध करता है ? अच्छा और बुरा तुम कर्मवश पाते हो।

घत्ता – इस प्रकार हृदय में जानकर (और) क्रोध का विनाश कर परोत्पन्न दु:खों को यदि क्षमा करता है तो सौजन्यता पाकर (और) कर्म जलाकर शाश्वत शिव-सुख में रमता है ।10।

1.11
(उत्तम क्षमा माहात्म्य)

किसी के भी साथ वैर हृदय में मत रखो। अनुपकारी का उपकार करो। जिनेन्द्र जिसे धर्म का मूल कहते हैं वह उत्तम क्षमा है, संशय नहीं। जीव-दया क्षमा के बिना प्राप्त नहीं होती। उस क्षमा के अभाव में राजा भी नरक गया – ऐसा विचार कर उत्तम क्षमा करो और चिरसंचित पापों की निर्जरा करो। पश्चात् तुम और कर्मों का अर्जन न करो, भव-दु:खों को त्यागो और सुख पाओ। दूसरों के द्वारा दु:खी होते हुए (भी) यदि आबद्ध वैरियों को क्षमा करके छोड़ते हो तथा यदि और अशुभ कर्म अर्जित करते हो (तो) उनके फलस्वरूप दु:ख का अनुभव करते हो। अन्य जन्मान्तर में कुगति पाते हो और भव-भव में निरन्तर दु:खी होते हो। अत: श्रेष्ठ निर्मल क्षमा से उद्धार करो (और) पाप-वृक्ष की जड़ का छेदन करो। मनुष्य क्रोधाग्नि से संतप्त होते हैं (और) उत्तम क्षमारूपी नीर से परम शीतल होते हैं ।

घत्ता – संसार असार है, बहुत दु:खों का बोझा है। इससे निर्गमन इसी प्रकार होता है। इसके विपरीत आचरण से दुर्मति जीवों के परम्परा से दु:ख होता है ।11।

1.12

मण वयण काय मा कोइ जणु । पोडवहि होहि दयलीण मणु ।।
इय सुणिउ ण किं जण - जंपणउ । सुहु दीणउ लब्भइ अप्पणउ ।।
तो अवरहं देहि ण दुक्खु तुहु । जिम अप्पुणु पावहि परम सुहु ।।
किज्जइ णिसिभोयणु परिहरणु । णिसिभोयणु वहु जीवह-मरणु ।।
पीवरि कप्पडि जलु गालियइ । सो कप्पडु पुणु जलि खालियइ ।।
रक्खियइ पयत्तें जीवगणु । तह ढिल्ल ण किज्जइ एक्कु खणु ।।
जूआ खेल्लणु वेसारमणु । परिहरि तह पारिद्धि गमणु ।।
णवणीउ कया वि ण भुंजियइ । कुसुमाइं कंद-गणु वज्जियइं ।।
इय वहुविह भावहि भयरहिउ । जं जिह आगम जुत्तिहि कहिउ ।।
तं तिह पालिज्जइ खमिय मउ । सिवहेउ अहिंसा - देसवउ ।।

घत्ता – मिच्छत्त - विणासणु, पाव - पणासणु, णिच्चाराहिय जिणवयणु ।
संसार विरत्तउ, दिढ सम्मत्तउ, धरइ अहिंसा - वय रयणु ॥ 12 ।।

1.13

सुणि एवहि वउ वीयउ सुच्चइ । वयणु असच्चु कयावि ण वुच्चइ ।।
जं अणहु तउ किंपि भविज्जइ । वयणु असच्चउ किंपि मुणिज्जइ ।।
कूडउ कउ सक्खु वि ण वविज्जउ । चडिवि पमाणि ण अलिउ कहेव्वउ ।।
कोह - माण-माया - लोहारसु । चवइ असच्चु कयाय परव्वसु ।।
जो ण कसायह अप्पु समप्पइ । सो ण कयावि असच्चउजंपइ ।।
जं किर सुच्चु वि परपीडायरु । तं ण पयंपइ वय विहि आयरु ।।
करि चाडत्तणु परु णिहणंतह । णरयगमणु सच्चु वि पभणंतह ।।
जं पर दोसु गुज्झु भासिज्जइ । त ण वि परय - णयरु वासिज्जइ ।।
केण वि सरिसउ जुज्झु ण किज्जइ । तहिव गालि कोसणउ ण दिज्जइ ।।
काणउ कुंढउ दुव्वलु णडियलु । जणु ण हसिज्जइ अक्खुडि पडियउ ।।

घत्ता – सव्वह जीवह हिउ, वोलिज्जइ पिउ, जं जण सवण सुहावणउ ।
विप्पिउ कडु अक्खरु, कक्कसु, णिट्ठुरु, भासिज्जइ ण भयावणउ ।। 13 ।।

1.12
(अहिंसाणुव्रतात्मक-कर्त्तव्य)

दयालीन मन होकर, मन, वचन और काय से कोई को भी मत पीटो। क्या लोगों को इस प्रकार कहते हुए नहीं सुना है कि सुख देने से अपने को भी (सुख) प्राप्त होता है ? इसलिए तुम दूसरों को दुःख मत दो जिससे कि स्वयं परम सुख पाओ। रात्रिभोजन त्याग कीजिए। रात्रिभोजन से बहुत जीवों का घात (मरण) होता है। मोटे कपड़े से पानी छानें और छन्ने को पानी में पखार लें। पैरों से जीव-समूह की रक्षा करें। उसमें एक क्षण को भी ढील न कीजिए। जुआ खेलना, वेश्यारमण करना, शिकार में जाना छोड़ो। नवनीत कभी भी नहीं खावे। पुष्पादि तथा कंद त्याग दे। इस प्रकार जो युक्तिपूर्वक आगम ने कहा है, भयरहित होकर बहुत जन भाओ/पालन करो। मोक्ष का हेतु अहिंसा देशव्रत क्षमापूर्वक मन, वचन और काय तीनों प्रकार से पालन किया जावे ।

घत्ता – मिथ्यात्व विनाशक, पापों के नाशक जिनेन्द्र-वचनों की नित्य आराधना करके संसार से विरक्त होकर (और) दृढ सम्यक्त्व से अहिंसाव्रत रत्न धारण करो ।12।

1.13
(सत्याणुव्रत-उपदेश)

इस समय (अब) दूसरे सत्याणुव्रत को सुनो-असत्य वचन कभी भी नहीं बोलें। यदि अन्य कोई के द्वारा असत्य वचन कहा जावे या कुछ असत्य जाना जावे, छलपूर्ण असत्य किसी की साक्षी में नहीं कहा जावे (जो) प्रामाणिक नहीं है (ऐसा) झूठ नहीं कहा जावे। क्रोध, मान, माया और लोभ (इन) कषायों के वश में होकर (जीव) असत्य बोलता है जो कषायों को स्वयं को समर्पित नहीं करता है, वह कभी भी असत्य नहीं बोलता है। निश्चय से जो सत्य परपीड़ाकारी है वह नहीं बोले और व्रतविधि आचरे। चाटुकारिता करके पर का घात करता हुआ सत्य बोलते हुए भी नरक जाता है । जिसके द्वारा पराये गुप्त दोषों को कहा जाता है उसके द्वारा भी नरक नगर में वास किया जाता है । किसी के द्वारा भी क्रोधपूर्वक युद्ध न किया जावे। उसी प्रकार न कोसा जावे और न गालियाँ दी जावें। काना, कुबड़ा, दुर्बल, और नृत्यकारजन आँखों में दिखाई देने पर हँसा नहीं जावे ।

घत्ता – सर्वजीव-हितकारी और लोगों को श्रवण-सुखद प्रिय (वाणी) बोली जावे, (इसके विपरीत) भयकारी कटु कर्कश और निष्ठुर वचन नहीं बोले जावें ।13।

1.14

सहसा दोसु ण कासु वि दिज्जइ । कज्जु अजाणिउ संभाविज्जइ ।।
वयणु चविज्जइ करिसु णिरिक्खिउ । किज्जइ कज्जु सयलु सुपरिक्खिउ ।।
जं जेहउ सवणिहि णिसुणिज्जइ । तं तेहउ ण कयावि भणिज्जइ ।।
णिय पयणेहि दिट्ठु छाविज्जइ । परहं दोसु णहु पुणु गाविज्जइ ।।
दुव्वयणिहि सिखिको विण हम्मइ । माया भासहि को वि ण छम्मइ ।।
अण्णु कुसंगह ण गवेसिज्जइ । कासु वि पुणु वोलणउ ण दिज्जइ ।।
अह जइ केण वि किंपि विणासिउ । सो णवि किज्जइ अइ सताविउ ।।
केण वि वुरउ सलज्जु पउत्तउ । तं पुणु उच्छल्लणह ण जुत्तउ ।।
कासु वि वुरउ ण चित्ति धरिज्जइ । कहिमि कज्जि अइगाहु ण किज्जइ ।।
भावदोस - वयणु वि वज्जिज्जइ । जणु जुत्सतहं कोडु ण किज्जइ ।।

घत्ता – इय वयणु असच्चउ, गय जण पच्चउ, वुहहि सयावि पमुच्चइ ।
सब्भाव सवच्छलु, परिवज्जियच्छलु, णिय परहिउ जगि वुच्चइ ।। 14।।

1.15

अह जइ दोसु कोवि तुव देसइ । हुंतउ अणुहुंतउ जि भणेसइ ।।
अह णिट्ठुर दुव्वयणिहि तावइ । वम्मुल्लूरणु गालिउ दावइ ।।
कडु अक्खरहि घरिणि णिब्भंसइ । णिच्च वि पोसणु-भरणु समिच्छइ ।।
दुव्वंधउ दुपुत्तु मणि कुद्धउ । णिद्धाडइं वोलंतु विरुद्धउ ।।
अह अवरोवि कोवि उवहासइ। जइ रुद्धा जणेरि इम भासइ ।।
जइ घर माणसु तुव विग्गोवइ । चाडु णरसहु मारण ढोवइ ।।
इय चिर कय पावें संपज्जइ । सव्वु वि सम भावेण खमिज्जइ ।।
दूसहु पर खर वयणु सहंतहं । हुइ पावखउ णरहं महंतहं ।।
सोत्ते तडउ दुक्खु सुहु अग्गइ । पढमउ सग्गु पुणु वि पंचमगइ ।।
अह ण खमइ तउ दुक्खु भयंकरु । सहइ कोइ कय कम्म परंपरु ।।

घत्ता – गव्वियहं अगव्वहं, जीवहं सव्वहं, छुडु आलाउ ण किज्जइ
पर कियउ विसेसें, मुक्क किलेसें, अप्पुणु सव्वु खमिज्जइ ॥ 15।।

1.14
(दैनिक व्यवहार में बोलचाल संबंधी चिन्तन)

अज्ञानता में कार्य होने की संभावना की जावे, सहसा किसी को भी दोष न दिया जावे। देख-भालकर वचन बोला जावे (और) भलीप्रकार परीक्षा करके सभी कार्य किये जावें। जो जैसा कानों से सुना जावे वह वैसा कभी भी नहीं कहा जावे। अपनी आँखों से पराये दोष देखकर गाये न जावें, ढँके जावें, दुर्वचनरूपी बाण से किसी को भी न घाता जावे। कपटमय भाषा बोलनेवाले को कोई भी क्षमा नहीं करता है। अन्य कुसंग की खोज न की जावे। किसी को फिर बोलने न दिया जावे अथवा यदि किसी के द्वारा कुछ विनाश किया जाता है (तो) वह अधिक सन्तापित न किया जावे। किसी के द्वारा बुरा लज्जास्पद उत्तर दिया जावे तो उस पर उछलना ठीक नहीं। हृदय में किसी का भी बुरा धारण न किया जावे। कथित कार्य में अतिग्रहण न किया जावे। भावदोषकारी वचन भी त्यागे जावें। संतजनों से कटु वचन न बोला जावे।

घत्ता – गत जनों द्वारा पचाया गया असत्य वचन बुधजनों द्वारा सदैव त्यागा जावे। छल-कपट त्यागकर वात्सल्य स्वभावी वे संसार में निज-परहित के लिए बोलते हैं ।14।

1.15
(परकृत अभद्र व्यवहारकालीन कर्त्तव्य)

अथवा यदि कोई तुम्हें दोष देता है और होनी-अनहोनी कहता है, अथवा निष्ठुर दुर्वचनों से संतप्त करता है, मर्म-छेदी गालियाँ देता है, घरवाली-कड़वे अक्षरों से निरुत्तर कर देती है (वह) निश्चय से भलीप्रकार भरण-पोषण चाहती है। दुष्ट-पुत्र मन में कुपित होकर विरुद्ध वचन बोलते हुए बुरी तरह बाँधकर बाहर निकाल देता है अथवा इतर कोई भी उपहास करता है यदि माता को विरुद्ध कहता है, यदि घर के लोग तुझे छिपा लेते हैं, राजा के चाटुकार मारने ले जाते हैं, इस प्रकार (ये बाधाएँ) पूर्वोपार्जित पापों से प्राप्त होती हैं। सम परिणामों से सभी को क्षमा किया जावे। पराये दुस्सह्य कठोर वचन सहते हुए मनुष्य के महान् पापों का क्षय होता है। आगे (उन) दुःखों और सुखों का विस्तार स्रोत प्रथम स्वर्ग पश्चात् पंचम गति (होता है) अथवा (जो) क्षमा नहीं करता है (वह) क्रोधकृत कर्म-परम्परा से भंयकर दुःख सहता है ।

घत्ता – गर्वपूर्वक या मानरहित होकर सभी जीवों को छोड़कर मिथ्यालाप न कीजिए। विशेषकर दूसरों पर कृपा करने से (उन्हें) क्लेश-मुक्त करने से अपने को सभी के द्वारा क्षमा किया जाता है ।15।

1.16

अप्पउ णवि सलहणु चाहिज्जइ । अवरहं पुणु सुह गुणु स लहिज्जइ ।।
कासु वि अण-उवयारु ण किज्जइ । पर उवयारु लहु वि मणिज्जइ ।।
जीवहं जिणपहु उवएसिज्जइ । पाउ - करंतु धम्मि लाइज्जइ ।।
तेवंचिय जिणणाहु - थुणिज्जइ । परमागम वक्खाणु सुणिज्जइ ।।
इय अणेय भावहि वउ वीयउ । रक्खिज्जइ जिह आगमि गीयउ ।।
एवहि तिज्जउ कहिमि अणुव्वउ । परधणु णवि भव्वेण हरिव्वउ ।।
धरिउ-पडिउ-वीसरिउ-णिहत्तउ । किंपि वि वत्थु जं जि परु घित्तउ ।।
अहच्छंडिउ अह घरि संपायउ । अप्पु - वहुत्तु वि भो ले आयउ ।।
कूडु करेविणु लेखइ वाहिवि । हठु करि को वि मरंतउ चाहिवि ।।
पर-पहूत्थु किंचि वि ण लइज्जइ । अण दिण्णउ सयलु वि वज्जिज्जइ ।।

घत्ता – धणु कणु मणि सारउ, परहु पियारउ, दुप्पय चउपउ मणिरयणु ।
तिण समु मण्णिव्वउ, तं ण हरिव्वउ, आराहंतह जिण-वियणु ।।16।।

1.17

परहु पयत्थु कहिमि जिण सुंदरु । कप्पडुराच्छु तुरउ णरु मंदिरु ।।
मग्गिउ अह मुल्लेण ण लब्भइ । पर दव्वहु भव्वे णउ लुब्भइं ।।
लोहमूलु चोरत्तणि - गम्मइ । पठमउ लोहु वि तं जिणहम्मइ ।।
सज्झिउ णरु ण कोवि वज्जिज्जइ । इट्ठु मित्तु करि कोण दुहिज्जइ ।।
णवि कासु वि अहियारु हरिज्जइ । करि चाडत्तणु किंपि ण लिज्जइ ।।
भायउ पुत्तु पियरु वंचेविणु । सणइ सणइ गेहहो संचेविणु ।।
णियज कुडुंवहो धणु ण हरिव्वउ । घर विहिण्णु भंडारु ण किज्जइ ।।
एक्कहो हरि वि ण अण्णहु दिज्जइ । णवि णिय दोसु परहो लाइज्जइ ।।
कावि हाणि अप्पहो आवंतो । सा पर सिरि वुच्चइ ण तवंतो ।।
रायदंडु जं किर णिय अंसहो । तण्ण चडाविज्जइ पर सोसहो ।।
रायकारु णिवंधु करंतिहि । भाउ दोसु मुच्चइं सम चित्तहि ।।

घत्ता – लच्छी खय हासु वि, भुवणि ण कासु वि, किज्जइ ण वि चिंत्तिज्जइ।
राउलि दंडिज्जइं, चोर मुसिज्जइं, इम कासु वि ण कहिज्जइ ।। 17।।

1.16

(सत्याणुव्रत के लिए आवश्यक आचार और अचौर्याणुव्रत संबंधी विचार-वर्णन)

अपनी प्रशंसा नहीं चाही जावे और दूसरों के शुभ गुण वह प्राप्त करे (उसके द्वारा प्राप्त किये जावें)। किसी का भी अनुपकार नहीं किया जावे। दूसरों से उपकार पाकर माना जावे, (स्वीकार किया जावे)। पाप करते हुए जीवों के लिए स्वामी जिनेन्द्र का उपदेश दिया जावे और धर्म में लाया जावे। इस प्रकार जिननाथ की अर्चना करके स्तुति की जावे। परमागम का व्याख्यान सुना जावे। इस प्रकार जैसा आगम में गाया गया है (कहा गया है) अनेक भावों में दूसरा व्रत रखा जावे (धारण किया जावे)। इस प्रकार तीसरे अणुव्रत को कहता हूँ। भव्य पुरुष के द्वारा पराया धन नहीं हरा जावे। रखी हुई, गिरी हुई, भूली हुई स्थापित, दूसरों से प्राप्त, अथवा छोड़ी हुए अथवा घर में प्राप्त अल्प या बहुत किसी भी वस्तु को बहियों में कूट लेखन करके, हठपूर्वक किसी का मरण चाहकर भी किंचित् पर वस्तु नहीं ली जावे। बिना दिया हुआ सब त्यागा जावे।

घत्ता – दूसरों के लिए प्रिय-धन-धान्य, सारस्वरूप मणि, द्विपद (मनुष्य), चतुष्पद जानवर, मणि-रत्न, तिनके के समान (तुच्छ) मानें, उनको नहीं चुरावें, जिनेन्द्र के वचनों को आराधें ।16।

1.17

(अचौर्याणुव्रत संबंधी व्यावहारिक चिन्तन और लक्ष्मी - स्वभाव - व्याख्यान)

(हे) भव्य पुरुष ! कहता हूँ (कवि कहता है) - दूसरों से पदार्थ - उत्तम कपड़ा, तुरंग, मनुष्य, महल (आदि) पदार्थ मांगकर अथवा मूल्य से (यदि) नहीं पाता है (तो) पर द्रव्य से भव्य पुरुष द्वारा लुभाया नहीं जावे। चोरी के लिए जाने में मूल (कारण) (लोभ) (है) उस लोभ को जिनमन्दिर में पढ़ो। साझेदार मनुष्य को कोई भी नहीं ठगे (धोखा देवे), इष्ट मित्र बनाकर उसे कौन दुखाता है ? किसी का अधिकार भी नहीं हरा जावे, खुशामद करके कुछ भी न लिया जावे। भाई, पुत्र, पिता को ठगकर (और) धीरे-धीरे घर का संचय करके अपने कुटुम्ब का धन नहीं हरे (क्योंकि) घरविहीन के द्वारा भण्डार नहीं किया जाता है। एक का हरकर दूसरों को नहीं दिया जावे। अपना दोष भी दूसरों के (पर) नहीं लाया जावे। आती हुई अपनी किसी भी हानि को संतप्त होते हुए पराये सिर पर नहीं कही जावे। निश्चय से अपने राजदण्ड के अंश को दूसरों के सिर से नहीं चढ़ाया जावे (सिर पर नहीं स्थापित किया जावे)। राजकीय वचन (स्वीकृति) का लेखन-कार्य करते हुए समचित्त से भाव-दोष छोड़ो।

घत्ता – लक्ष्मी क्षयशील और ह्रासवान है। संसार में किसी की भी नहीं है। चिन्ता नहीं की जावे। राजकुल में दण्डित की जाती है, चोरों द्वारा चुराई जाती है, यह किसी की भी नहीं कही जाती है (गयी है) ।17।

1.18

जइ लहणउ कासु वि पास धणु । मंगियउ सुहेण ण लहइ पुणु ।।
तउ वंधिवि लंघाइवि घणउ । ण वि लिज्जइ जइ विहु अप्पाणउ ।।
धरतुय देक्खंतु वि धणिउ । तहं विहु उच्चेडइ णिग्घिणउ ।।
णिय दव्वु वि लिंतहं तासु मलु । थिर दयच्छंडेविणु महइ चलु ।।
पीडिवि ण लेइ तहो खमइ णवि । ता होइ साहु सुरलच्छिमइ ।।
अह लेइ विराहिवि खमइ णवि । तउ दुक्खिउ णिद्धणु भवि जि भवि ।।
घर कम्मुकरावइ किंपि वहु । कासु वि धणु दिज्जइ तुच्छुणहु ।।
जइ कासु वि थवणी रहइ घरे । गउ काल वि पज्जइ देस पुरे ।।
तउ तहो संताणिजि को वि हुउ । तहो लच्छिगु सायउ घरिणि सुउ ।।
तह दिज्जइं जण किवि साक्खि लए । अहवा इह जुत्ति न होइ जइ ।।
जिण पयड धम्मि तउलाइयइ । णिय बुद्धि हेतु संभावियइ ।।

घत्ता – मुसियउ चोरेण वि, अह जइ केण वि, दंडु समग्गलु तउ कियउ ।
चिंतइ णवि रूवउ, तहो खय रुवउ, खमहि कोहु करि दिढु हियउ ।। 18।।

1.19

ण वि कासु वि चोरी लाइज्जइ । वत्थु पराइ ण वि तक्किज्जइ ।।
परधणु अह णिय धणु वि हरंतउ । जइ दिट्ठउ णरु को वि मरंतउ ।।
चोरु भणेवि तउ णवि गोविज्जइ । मउणु करेविणु हाणि खमिज्जइ ।।
अह कला सिलिज्जइ तउ लिज्जइ । एम करंत ण वरमुच्छिज्जइ ।।
संगु ण किज्जइ चोर समाणउ । मउल ण लिज्जइ चोर किराणउ ।।
राय विरुद्ध सयलु वज्जिज्जइ । हीणाहिय तुलमाणु ण किज्जइ ।।
भंडि कुभंडि ण मीसण जुत्तउ । णाडी भखणु पाउ महंतउ ।।
अह जइ धणु पुणु कासु वि दिण्णउ । तुच्छु वहुत्तु वि णवउ चिराणउ ।।
तं णवि अत्थि धरहं यं दिज्जइ । तह विसया वि देण मइ किज्जइ ।।
साहु कियउ उवसग्गु खमिज्जइ । विग्गोवइ तउ मण्णाविज्जइ ।।

घत्ता – जं जं किल पुज्जइ, तं तं दिज्जइ, सीसु देण चाहिज्जइ ।
देसमि इउ वुच्चमि, सीलु ण मुच्चमि, मिच्छ कयावि ण किज्जइ ।।19।।

1.18

(अचौर्याणुव्रत के अन्तर्गत ऋणी के प्रति साहूकार का तथा नौकर का मालिक के प्रति कर्त्तव्य तथा धरोहर संबंधी चिन्तन)

यदि किसी के पास से धन लेना है (तो) सुख (सरलता) से माँगो, फिर नहीं मिलता है, यदि धन अपना है तो बाँधकर, सघन, लंघन कराकर नहीं लिया जावे। धनिक (उसे) (धन) धरते हुए देखकर भी मुँह फेर लेता है, उससे घृणा (मत) करो। अपना द्रव्य लेते हुए भी उसके दोष (लगता) है। स्थिर दया का त्याग किये बिना आदर करता चले। यदि साहूकार (ऋणी को) पीड़ा देकर (धन) नहीं लेता है, क्षमा कर देता है, तो साहूकार देवलक्ष्मीवान् होता है। अथवा क्षमा नहीं करता है, विराधित करके (कर्ज) लेता है तो भव-भव में निर्धन (होकर) दुःखी (होता है)। घर काम करने आनेवाले किसी छोटे (कर्मचारी) को भी कुछ (या) बहुत धन दिया जावे। यदि किसी की धरोहर घर में रहती है (और वह) देश में, नगर में, काल को प्राप्त हो गया (मर गया) तो उसकी जो कोई भी स्त्री, पुत्र-संतान हो, उसकी लक्ष्मी को भोगे। किसी जन को साक्षी में लेकर वह लक्ष्मी (उसे) दे दी जावे अथवा यदि यह ठीक न हो (तो) जैनधर्म में उसे लाकर प्रकट (करे) (और) अपनी बुद्धि से संभावित करे।

घत्ता – चोर के द्वारा चुराये जाने पर भी, अथवा यदि किसी के द्वारा दण्ड देकर (लक्ष्मी) समर्थिक की गयी तो भी प्रत्यक्ष में चिन्ता नहीं करे। उसके प्रत्यक्ष क्षय (होने पर) हृदय दृढ़ करके क्रोध को क्षमा करो (क्रोध नहीं आने दो) ।18।

1.19

(अचौर्याणुव्रत संबंधी अतिचारात्मक चिन्तन)

किसी की चोरी (चुरायी गयी वस्तु) नहीं लायी जावे। (और) न पराई वस्तु ताकी जावे। पराया अथवा अपना धन चुराते हुए यदि कोई महान पुरुष दिखाई देता है, तो उसे चोर नहीं कहकर छिपा लिया जावे। मौन रहकर हानि क्षमा की जावे। चन्द्रकला-शिला पर (और) वृक्ष पर जाती है। ऐसा करते हुए (वहाँ जाते हुए उसे) वर्मा से नहीं छेदा जाता। आना-जाना चोर के साथ नहीं किया जावे। चोर के द्वारा लायी गयी वस्तुएँ मौल नहीं ली जावें। राज्य-विरुद्ध सब त्यागा जावे। हीनाधिक माप-तौल न की जावे। चोखे बर्तनों में खोटे-बर्तनों का मिश्रण ठीक नहीं। नसों (हड्डियों) के भक्षण में महान पाप है। अल्प या बहुत, नया या पुराना किसी को धन देना, अथवा जो घर का नहीं है, वह देना (इसमें) विष देने की कल्पना की जावे। किये हुए उपसर्ग को साहूकार क्षमा करे, (यदि ऋणी) रहस्य विगोपन करता है तो मना लिया जावे।

घत्ता – निश्चय से जो-जो पूजता है (अपने पास है) वह-वह दिया जावे, शेष देने की इच्छा की जावे। दूँगा इस प्रकार कहे, शील नहीं छोड़े, मिथ्या व्यवहार कभी भी नहीं किया जावे ।19।

1.20

रिण संबंधे एउ करंतहं। पाउ ण लग्गइ पंजलि चित्तहं ।।
पाउ - हीणु जहि कहि उप्पज्जइ। तहि रिणच्छेयण खमु संपज्जइ ।।
रिणु मोडिव्वइं जसु मइं वट्टइ। सो भवि-भवि दुखिहि आवट्टइ ।।
अह तुव धणु वलिवंडइं केण वि। लयउ कयावि कुसील वलेण वि ।।
झुट्ठउ झगड़उ अलिउ धरेविणु। वीसासिवि पुणु वंधु करेविणु ।।
तहवि तासु मा वुरहउ चिंतहि। महु एरिसु भवीसु इउ मंतहि ।।
अवसु आसिमइं एउ विराहिउ। एवहि एव वयणु तं साहिउ ।।
एउ चिंतिवि तिणि सहु खम किज्जइ। हउ फेडिउ अमु केण ण गिज्जइ ।।
एवमाहि सुंदरु मणि भावहि। जिम चिरु सूरहि अप्प सहावहि ।।
वउ पालिज्जइ तेम पयत्तें। माया लोह कसाय कंयत्तें ।।

घत्ता – जिण मुणि आएसहु, जा किर देसहु, विरइ अदत्तादाणहो।
तं तीयउ अणुव्वउ, दिढुव वसिव्वउ, पंथु परम णिव्वाणहो ।। 20।।

इय अप्प संवोह कव्वे। सयल जणमण सुहंकरे। अव्वला बाल सुहु वुज्झ पयत्थे। पढमो संधी परिच्छेओ सम्मत्तो ।

1.20

(साहूकार का ऋणी के प्रति सद्व्यवहारात्मक - चिन्तन)

ऋण के संबंध में इस प्रकार करते हुए सरल चित्त के (को) पाप नहीं लगता है। पापहीन जहाँ कहीं उत्पन्न हो जाता है। अतः क्षमापूर्वक ऋण छेदन किया जावे। ऋण के मोड़ने/भंग करने में जिसकी बुद्धि प्रवर्तित होती वह भव-भव दुःखों से (दुःखपूर्वक चक्र के समान) परिभ्रमण करता है, अथवा तुम्हारा धन कभी किसी कुशील बलवान के द्वारा लिया गया, मिथ्यारोप करके झूठा झगड़ा किया गया (तो) विश्वासपूर्वक बन्धुता करके इतना होने पर भी उनके लिए बुरा मत चिन्तो। मेरा ऐसा ही भविष्य है - इस प्रकार परामर्श करो। इस प्रकार (ऐसा करने से) विराधितजन अवश्य आशीष देंगे। इस प्रकार यही वचन है उसे सिद्ध करो, ऐसा विचार कर उन पर (ऋणी पर) साहूकार के द्वारा क्षमा की जावे। मैंने विनाश किया यह किसी के द्वारा नहीं गाया जाता (कहा जाता)। इस प्रकार जैसा पूर्वाचार्यों द्वारा (कहा गया है) मन में सुन्दर/शुभ आत्म-स्वभाव भाओ। माया, लोभ (आदि) कषायों का अन्त करते हुए प्रयत्नपूर्वक उसी प्रकार व्रत पाले जावें ।

घत्ता – जिन मुनियों के आदेश (और) देशना से (कवि) अदत्तादान (अणुव्रत) की रचना करता है। निर्वाण के परम पंथ उस तीसरे अणुव्रत को दृढ़ता से बसाया जाना चाहिए ।20।

इस आत्म सम्बोध काव्य में सभी जनों के मन को सुखकर अबला-बालजनों के सुखरूपी जल-प्रवाह में प्रवाहित पदार्थवाला प्रथम परिच्छेद पूर्ण हुआ।

जैनविद्या संस्थान
श्रीमहावीरजी-322220

जैनविद्या

(शोध-पत्रिका)

सूचनाएं

1. पत्रिका सामान्यत: वर्ष में दो बार प्रकाशित होगी।
2. पत्रिका में शोध-खोज, अध्ययन-अनुसंधान सम्बन्धी मौलिक अप्रकाशित रचनाओं को ही स्थान मिलेगा।
3. रचनाएं जिस रूप में प्राप्त होंगी उन्हें प्राय: उसी रूप में प्रकाशित किया जायगा। स्वभावत: तथ्यों की प्रामाणिकता आदि का उत्तरदायित्व रचनाकार का होगा।
4. यह आवश्यक नहीं कि प्रकाशक, सम्पादक लेखकों के अभिमत से सहमत हो।
5. रचनाएं कागज के एक ओर कम से कम 3 सें.मी. का हाशिया छोड़कर सुवाच्य अक्षरों में लिखी अथवा टाइप की हुई होनी चाहिए।
6. रचनाएं भेजने एवं अन्य सब प्रकार के पत्र-व्यवहार के लिए पता –

सम्पादक
जैनविद्या
दिगम्बर जैन नसियां भट्टारकजी
सवाई रामसिंह रोड
जयपुर-302004